ानवता
की
धुरी
नीरज

मानवता की धुरी

लेखक
नीरज जैन

प्रकाशक
पी.एस.जैन फाउण्डेशन, दिल्ली.

1 जनवरी 1991

मानवता की धुरी

प्रकाशक—

रमेशचन्द्र जैन
पी.एस. जैन फाउण्डेशन,
7-ए, राजपुर रोड,
दिल्ली-110054

●

लेखक

नीरज जैन,

●

प्रथमावृत्ति : 1.1.1991

●

मूल्य : मनन

●

मुद्रक—

अंकित प्रिंटिंग प्रेस
शाहदरा, दिल्ली-110032
फोन : 2284694
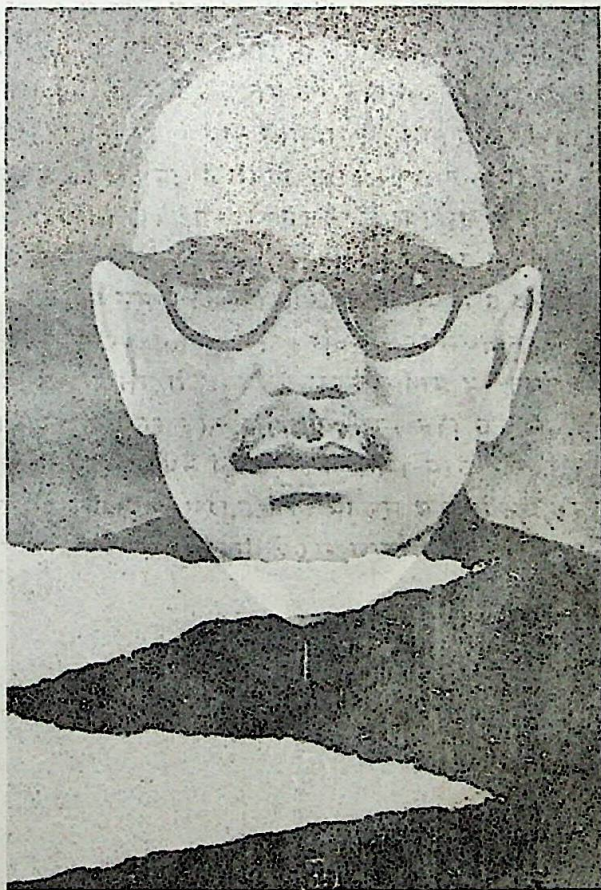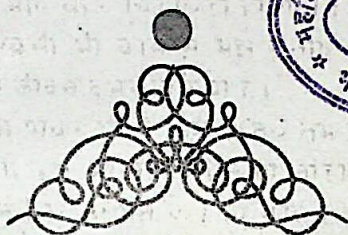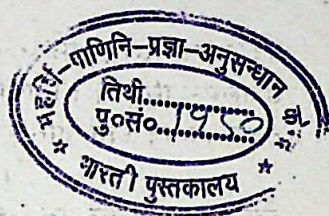
स्व. लाला प्रताप सिंह जी

प्रस्तावना

आज सामान्य व्यक्ति के जीवन से शान्ति का अभाव होता जा रहा है। जीवन के संघर्ष दिन-प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं। ऐसा लगता है कि हमारी सारी दौड़ भौतिक समृद्धि के लिये समर्पित होकर रह गई है।

विष्णु प्रभाकर जी ने एक जगह लिखा था-- "आज देश में धन-वैभव के मूल्य बढ़ गये हैं और नैतिकता के मूल्य शून्य हो गये हैं। गरीबी की गरिमा, सादगी का सौन्दर्य, संघर्ष का हर्ष, समता का स्वाद और आस्था का आनन्द, ये सब हमारे आचरण के पतझर के पत्तों की तरह झर गये हैं"। आज समाज की सारी अशान्ति, सारे संक्लेश, इसी वैचारिक पतझर का परिणाम है।

ऐसे में नैतिक और धार्मिक विचार ही मनुष्य के मार्ग-दर्शक हो सकते हैं। अपनी पहचान और अपने लक्ष्य का संकल्प ही उसके आचरण में मानवता की सुरभि का संचार कर सकता है। विश्व-व्यवस्था के रहस्यों का परिज्ञान ही उसके लिये आत्म-अवलोकन का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

यदि एक बार पूर्वाग्रह छोड़कर संसार की दशा को समझा जा सके तो मन के बहुत से तनाव स्वतः विसर्जित हो जाते हैं। सृष्टि की रहस्यात्मकता पर से पर्दा उठते ही मन में छाया हुआ अविद्या का अंधकार तिरोहित होने लगता है। विश्व-व्यवस्था की यही अनुभव-गम्य व्याख्यायें आगे के पृष्ठों पर प्रस्तुत की गई हैं।

जो लोग जीवन को बिना कोई दिशा दिये जीना चाहते हैं, वे अपने आपको तो अर्थहीन बनाते ही हैं, समाज को भी हानिकारक परम्पराओं की सौगातें सौंप जाते हैं। यह जीवन सृष्टि का सर्वोत्कृष्ट वरदान है। इसे निरर्थक नहीं बिताया जाना चाहिए। स्व-हित और पर-हित के लिये सौद्देश्य और सार्थक बना कर इसे जीना चाहिए। मुख्य रूप से यही इस पुस्तक में मेरा कथ्य है। "सौम्य, शान्त और तनाव-रहित जीवन हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है" इस घोष का समर्थन ही मेरा काम्य है।

1989 में कुंभ के अवसर पर लगभग चार सप्ताह तक स्व. माधव प्रसाद जी बिरला के साथ मुझे आनन्द-कानन में रहने का अवसर मिला। प्रतिदिन दो बार वहां धर्म-चर्चा होती थी। अनेक गण-मान्य अतिथि उस बीच वहां आये। अनेक मनीषी विद्वानों का भी सत्संग मिला। इन सब की उपस्थिति में शाम की चर्चा के समय रोज एक गोष्ठी जैसी हो जाती थी। श्रीमती प्रियंवदा जी बिरला स्वयं एक आस्थावान और प्रबुद्ध महिला हैं। जिस निराग्रही मन से उन्होंने इस गोष्ठी के लिये प्रसंग रखे, वैसे ही अनाग्रह-पूर्वक प्रश्नों के समाधान भी उनके द्वारा समादृत होते रहे।
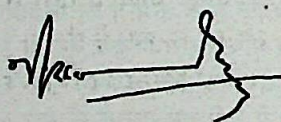
भाई रमेशचन्द्र जी अपने पूज्य पिता स्व. लाला प्रताप सिंह जी की जन्म-तिथि पर प्रतिवर्ष कुछ आयोजन करते हैं। इस अवसर पर मानवीय मूल्यों को प्रोत्साहित करने वाला कोई साहित्य पाठकों तक पहुंचाना भी उनका ध्येय है। इस प्रसंग के लिये

इस बार मैं कुछ लिखकर दूं ऐसा उनका प्रेम भरा आदेश और आग्रह था उपरोक्त वार्ताओं के आधार पर मेरा भी मन एक पुस्तक लिखने का था। उसी का प्रतिफल है कि मेरा यह चिन्तन, इतनी जल्दी, इतने सुन्दर प्रकाशन के रूप में, आपके हाथों तक पहुंच रहा है। इसके लिए मैं पी.एस. जैन फाउण्डेशन का आभारी हूं।

आदरणीय भाई नेमीचन्द्र जी के मीठे तकाजों ने यह कार्य एक निश्चित अवधि के भीतर मुझसे पूरा करा लिया। पाण्डुलिपि को आद्योपान्त देखकर उन्होंने कुछ उपयोगी परामर्श भी दिये। आदरणीय श्री यशपाल जैन जी ने मेरा अनुरोध स्वीकार किया और अपने अत्यन्त व्यस्त कार्यक्रम में से समय निकाल कर इस पुस्तक की भूमिका लिखने की कृपा की है। दोनों ही सज्जन मेरे अग्रज-तुल्य हैं। उनके इस सहज-स्नेह के लिये कुछ कहने की औपचारिकता मैं नहीं करूंगा।

श्री पन्नालाल जैन द्वारा संकलित "कबीर-वाणी" और डा. वशिष्ठ नारायण सिन्हा की पुस्तक "जैन-धर्म में अहिंसा" से कुछ उद्धरण मैंने लिये हैं। इन दोनों लेखकों और उनके प्रकाशकों का आभार मानना मेरा कर्त्तव्य है। रामचरित मानस के संदर्भ ढूंढने में रामवन के श्री मोतीलाल जी का, और पुस्तक की सुन्दर संयोजना के लिये श्री प्रदीप जैन का जो सहयोग मिला उसे पाना मेरा अधिकार था।

इस पुस्तक के माध्यम से, संसार-शरीर और भोगों की वास्तविकता के प्रति पाठकों की जिज्ञासा में यदि थोड़ा सा भी पैनापन आ सका तो मेरा परिश्रम सार्थक होगा। सुधी पाठकों की प्रतिक्रियाओं ने सदैव मेरा मार्ग-दर्शन किया है। इस बार भी मैं उनका स्वागत करूंगा। इत्यलम्।

(नीरज जैन)

शान्ति सदन, सतना.
31 अक्टूबर 1990.
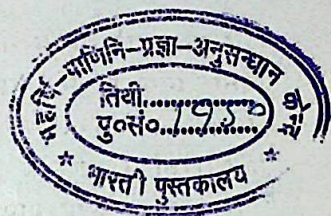
पग पग पर प्रभु-आश्रित,
अथ से इति तक कर्मठ, निश्छल और निर्लेप,
सौम्य सौजन्यमूर्ति
स्व. श्रीयुत माधव प्रसाद जी बिरला को
आनन्द-कानन की दुर्लभ-स्मृतियों सहित
सादर समर्पित.

—नीरज जैन

भूमिका

आज मानवीय मूल्यों का इतना ह्रास हो गया है कि वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन में सर्वत्र असह्य विकृतियाँ उत्पन्न हो गई हैं। चारों ओर निराशा, कुण्ठा और संत्रास ही दिखाई देता है। मुझे प्रसन्नता है कि चिन्तन को दिशा देने वाली यह पुस्तक अत्यंत उपयुक्त समय पर पाठकों के हाथ में पहुंच रही है।

वस्तुतः मूल्यों के संकट, और उससे उपजी समस्त व्याधियों का जनक स्वयं मनुष्य ही है और वही उन्हें दूर कर सकेगा। मनुष्य हथकड़ी-बेड़ी का निर्माण करता है और अंततोगत्वा वे उसी के हाथ-पैरों को जकड़ लेती हैं।

यह पुस्तक बताती है कि जिस कुरुक्षेत्र का हाल हम महाभारत में पढ़ते हैं वह तो यथार्थ में प्रत्येक व्यक्ति के अंतर में विद्यमान है। गांधीजी ने "गीता-बोध" में लिखा है– "कुरुक्षेत्र का युद्ध तो निमित्त मात्र है, सच्चा कुरुक्षेत्र तो हमारा अपना शरीर है। यही कुरुक्षेत्र है और यही धर्मक्षेत्र भी है। यदि हम इसे ईश्वर का निवास-स्थान समझें और वैसा बनावें तो यह धर्मक्षेत्र है। इस क्षेत्र में कुछ न कुछ लड़ाई तो नित्य चलती ही रहती है। अंतर की वे सारी लड़ाइयाँ "मेरे-तेरे" को लेकर होती हैं। अपने-पराये के बीच हमारे राग-द्वेष में से पैदा होती हैं। "राग-द्वेष" ही सारे अधर्म की जड़ है। जिसे अपना माना उसमें राग पैदा हुआ, जिसे पराया माना, उसके प्रति बैर, या द्वेष-भाव आ गया। इसलिये "मेरे-तेरे" का भेद भुलाकर समत्व प्राप्त किया जाना चाहिये। या यों कहें कि "राग-द्वेष" तजना चाहिये। कल्याण का मार्ग तो यही है, परन्तु कहना एक बात है, और उस पर आचरण करना दूसरी बात है। गीता हमें कथनी के अनुसार करने की भी शिक्षा देती है।

हम कह सकते हैं कि प्रस्तुत पुस्तक जहाँ यह बताती है कि मानव-मूल्य क्या हैं? वहीं उन शास्वत मूल्यों के अनुसार चलने की प्रेरणा भी देती है। जैन दर्शन में सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-ज्ञान के साथ सम्यक्-चरित्र को इसीलिये अनिवार्य माना गया है। किसी महापुरुष ने ठीक ही कहा है कि –"विचार कितने ही अच्छे क्यों न हों, यदि तदनुकूल आचरण नहीं है तो वे निरर्थक हैं।"

मनुष्य सृष्टि का सबसे विकसित और विवेकशील प्राणी है। दुःख से अरुचि और सुख की आकांक्षा यों तो सभी जीवों में होती है, परन्तु मनुष्य उसके लिए प्रयास भी करता है। इसी अभिप्राय से वह धर्म का सहारा लेता है।

हर काल-खण्ड में, व्यक्ति की हर समस्या का समाधान जिसमें मिल सके, वही धर्म "जीवन-धर्म" कहा जा सकता है। ऐसे धर्म को किसी पंथ से बांधना उसका अवमूल्यन है। पंथ-निरपेक्ष हुए बिना धर्म अपनी सार्थकता सिद्ध नहीं कर सकता।

इस पुस्तक में ऐसे ही सर्व-मान्य मानव-धर्म की व्याख्या की गई है।

मन के महासमर में संकल्प का अर्जुन हताश होकर जब संघर्ष-क्षेत्र में बैठ

जाता है, तब वात्सल्य के वासुदेव, विश्व की वास्तविकता बताकर उसे उत्साह और शक्ति प्रदान करते हैं। जीवन को ताजगी और संकल्पों को दृढ़ता देने वाले ऐसे ही कालजयी परामर्श इस पुस्तक में प्रस्तुत किये गये हैं।

लेखक ने हिंसा को सबसे बड़ा पाप सिद्ध किया है और अहिंसामय धर्म की प्रतिष्ठा करने का यत्न किया है। प्रायः अहिंसा को एक नकारात्मक सिद्धान्त बताकर उसकी उपेक्षा कर दी जाती है। लेखक ने इस दृष्टिकोण की समीक्षा करते हुए अहिंसा को एक सकारात्मक, व्यवहार्य और समग्र जीवन-दर्शन प्ररूपित किया है।

भाव-हिंसा का विश्लेषण जैन-दर्शन की अपनी विशेषता है। उसकी पर्याप्त गवेषणा करते हुए हिंसा के उद्योगी, विरोधी, आरम्भी और संकल्पी ये चार भेद बताकर, यह घोष किया गया है कि केवल संकल्पी हिंसा का त्याग कर देने पर मनुष्य "अहिंसक" कहलाने का अधिकारी हो जाता है। यह एक ऐसी दृष्टि है जो "कायरता" और "पलायनवाद" जैसे लांछनों से मुक्त करके अहिंसा को समस्त मानवीय-मूल्यों का आधार मानते हुए मानवता की धुरी के रूप में स्थापित करती है। अहिंसा की यह सर्वांग, संक्षिप्त और सरल विवेचना पुस्तक के पहले अध्याय में प्रस्तुत करके उसे ही शेष कथन का साध्य बनाया गया है। सदाचरण की वही प्रमुख उपलब्धि है।

दूसरे अध्याय में अणुव्रत की विवेचना करते हुए अपरिग्रह की विशद् किन्तु काम्य प्रस्तुति है। अपरिग्रह के बिना अपने आपको समेटना सम्भव नहीं, और स्वयं को समेटे बिना सुख, शान्ति या संतोष, किसी की भी उपलब्धि सम्भव नहीं।

परिग्रह की लिप्सा में उलझे व्यक्ति की चेतना पर अविद्या का कोहरा छाया रहता है। इसी कारण वह न जगत को जान पाता है, न स्वयं को। "माया-महाठगनी" एक ऐसा ही छोटा सा अध्याय है, जिसमें माया की कुछ अलग सी व्याख्या करके, मन की माया को ही जीव का बंधन माना गया है।

ईश्वर-कर्तत्व जैसे विवादास्पद विषय को आत्म-उत्सर्ग के मार्ग में अनावश्यक बताकर, प्रकृति की माया को अपने हित-अहित में अकार्यकारी मानकर, लेखक ने यह उपयोगी सूत्र दिया है कि, हमारे मन से उपजी हुई "मेरे-तेरे" की माया ही हमारे भव-भ्रमण का मूल कारण है। मन की माया ही मनुष्य को संक्लेषित करती है। इस तरह हमारे सुख-दुख के लिये हम स्वयं उत्तरदायी हैं, कोई दूसरा नहीं।

"अनुप्रेक्षा" इस पुस्तक का अंतिम अध्याय है। इस अध्याय के माध्यम से लेखक ने सृष्टि के रहस्यों की सरलतम किन्तु वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। बारह-भावनाओं का यह चिन्तन यदि दृष्टि में रहे तो निश्चित ही जीवन में निस्पृहता और अनासक्ति का प्रवेश हो सकता है।

आज के संघर्ष-पूर्ण और व्यस्त जीवन में, मनुष्य के अंतःकरण को संवारने वाले ऐसे सरल-सुगम किन्तु समर्थ आलेख सामान्य पाठक के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। समाज के सभी वर्ग उससे लाभान्वित हो सकते हैं।

दर्शन और साधना का विवेचन प्रायः नीरस और बोझिल हो जाता है। इस कारण वह पाठक के हृदय तक पहुंच नहीं पाता। "मानवता की धुरी" के रूप में लेखक ने गहन-गम्भीर विषय को सरल और ग्राह्य शैली में प्रस्तुत किया है। बीच-बीच में महाभारत, भागवत्-गीता, रामायण, जैन आगम, गुरु ग्रन्थ साहब, तथा कबीर, भूधरदास और दौलतराम आदि जन-कवियों के उद्धरण देकर उन्होंने यह सिद्ध किया है कि कल्याणकारी परामर्शों में सर्वत्र मानव-मूल्यों की ही प्रतिष्ठा है। सभी ने अहिंसामय धर्म को ही उपादेय माना है, उसी के अभ्यास की प्रेरणा दी है।

सशक्त और सटीक उदाहरणों के माध्यम से अपनी बात को पाठक के मन में गहराई तक पहुंचा देना लेखक की अपनी विशेषता है। वास्तव में वे जहां एक अच्छे लेखक हैं, वहीं एक प्रभावक प्रवचनकार भी हैं। उनके धार्मिक प्रवचन नई पीढ़ी को विशेष रूप से आकर्षित करते हैं, और रुचि के साथ मनोयोगपूर्वक सुने जाते हैं। उनकी यह शैली इस पुस्तक को भी रुचिकर और सरस बनाती है। इस लोकोपयोगी सृजन के लिए नीरज जैन बधाई के पात्र हैं।

बंधुवर रमेश जी अपने स्व. पिताजी की स्मृति में प्रतिवर्ष एक अच्छी पुस्तक प्रकाशित करके पाठकों तक पहुंचाते हैं। उनका यह संकल्प निःसंदेह सराहनीय है। इस वर्ष उन्होंने "मानवता की धुरी" को चुना इसके लिये लेखक और प्रकाशक दोनों को साधुवाद।

मुझे पूरा विश्वास है कि यह पुस्तक सभी क्षेत्रों और वर्गों में चाव से पढ़ी जायेगी और पाठक इससे अवश्य लाभान्वित होंगे।

—यशपाल जैन

7, दरियागंज,
नई दिल्ली-110 002
24 नवम्बर 1990.

प्रकाशकीय

कैसी विडम्बना है कि ज्यों-ज्यों जनसंख्या बढ़ रही है त्यों-त्यों मानवीय गुणों की गुणवत्ता और संख्या में ह्रास हो रहा है। इस संदर्भ में हमारे ट्रस्ट के लिये प्रकाशित मानवता की कुंजी में लेखक फादर वालेस के कुछ सूत्र वाक्य महत्वपूर्ण हैं:–

यथा:– "मनुष्य के भविष्य का निर्माण केवल बुद्धि द्वारा नहीं उसके समूचे व्यक्तित्व द्वारा होता है।"

"मनुष्य अपने विचारों, भावनाओं, रुचियों एवं वृत्तियों को विशिष्ट दिशा में मोड़कर कुशल व्यक्तित्व का निर्माण कर सकता है।"

"संयम के ही स्कूल में उज्ज्वल व्यक्तित्व बनता है।"

महात्मा गांधी ने लिखा है:–

"कुरुक्षेत्र का युद्ध तो निमित्त मात्र है, सच्चा कुरुक्षेत्र हमारा अपना शरीर है। यही कुरुक्षेत्र है। यही कुरुक्षेत्र है और यही धर्म क्षेत्र भी।"

उक्त सूत्र विचारों का पोषण एवं क्रियान्वयन ही आज की गिरती हुई मानवता को उन्नत बनाने का सशक्त माध्यम है।

इसी प्रकार के विचारों से प्रेरित होकर पी.एस. जैन फाउण्डेशन प्रति वर्ष अपने संस्थापक **स्व. श्रीयुत प्रताप सिंह जी** की स्मृति में मानवता से संबंधित एक पुस्तक निःशुल्क वितरण के लिए प्रकाशित करता है और प्रति वर्ष एक सभा का आयोजन करता है। इसी श्रृंखला में मेरे अनुरोध पर श्री नीरज जी द्वारा लिखित यह पुस्तक **"मानवता की धुरी"** प्रकाशित की जा रही है। आशा है यह पुस्तक अपने अन्तर के कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र में परिवर्तित करने के वांछित ध्येय में सार्थक सिद्ध होगी। हमारे पिता स्व. श्रीयुत प्रताप सिंह जी का जन्म एक जनवरी को हुआ था। वे कर्मनिष्ठ, समाजसेवी एवं परोपकारी वृत्ति के पुरुष थे और इसी उद्‌देश्य से उन्होंने प्रताप धर्मार्थ ट्रस्ट की स्थापना की थी जिसे आगे चलकर मैंने अपने परिवारजनों के सहयोग से संस्थापित **पी. एस. जैन फाउण्डेशन** नामक रजिस्टर्ड ट्रस्ट में विलय कर दिया। अब यह संस्था परोपकारी कार्यों को स्वयं तथा सहयोग से सम्पादित करती है। अंग्रेजी में एक कहावत है : "CHILD IS THE FATHER OF MAN." इससे स्पष्ट होता है कि बच्चों की शिक्षा द्वारा सही मार्गदर्शन सही मानवता का विकास कर सकता है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर हमारे ट्रस्ट की भावी योजना शिक्षा के माध्यम से बच्चों के व्यक्तित्व निर्माण के विकास को उन्नत करने की है। यों दुःखी एवं कमजोर व्यक्तियों की यथायोग्य सहायता द्वारा ट्रस्ट पारमार्थिक कार्यों में कार्यरत है ही।

सही मानवता का विकास हो और दुखी मानव के प्रति क्रियात्मक सहानुभूति का व्यवहार हो ऐसी नित्य सद्भावना सभी में विकसित होती रहे।

श्री यशपाल जी तथा श्री नीरज जी हमारे अपने ही स्वजन हैं। उनकी स्नेह कृपा का मैं हृदय से अनुग्रहीत हूं।

रमेश चन्द जैन
अध्यक्ष
पी. एस. जैन फाउण्डेशन

अनुक्रमणिका

अपने अपने कुरुक्षेत्र

कुरुवंश की दो शाखाओं, कौरवों और पाण्डवों के बीच वैमनस्य की खाई प्रतिक्षण चौड़ी होती जा रही थी। दोनों के बीच विनाशकारी महायुद्ध की भूमिका प्रायः बन चुकी थी। विप्लव का बिगुल बजाने के लिये अनेक कण्ठ उतावले हो रहे थे।

ऐसे विषम वातावरण में एक व्यक्ति, अकेला एक व्यक्ति, चिन्तित और बेचैन होकर इस युद्ध को टालने का, और शान्ति स्थापित करने का उपाय ढूंढ रहा था। इस युद्ध की सम्भावना के साथ वह महापुरुष उसके परिणामों को भी अपनी कल्पना में साक्षातवत् देख रहा था। यही उसकी चिन्ता और बेचैनी का कारण था।

उस महापुरुष का नाम था वासुदेव कृष्ण।

पाण्डव युद्ध नहीं चाहते थे। अपने वंश के विनाश को निमंत्रित करना और अपने ही हाथों अपने आत्मीय जनों का प्राण-हरण करना उन्हें तनिक भी प्रिय नहीं था। किसी को नहीं होना चाहिये। परन्तु उसी कुरुवंश के उद्धत, असंयमित और अहंकारी कौरव इस आत्मघाती अनुष्ठान को न्यौतने में ही अपने पौरुष की सार्थकता देखने लगे थे।

घृत की आहुतियाँ यज्ञ के अग्निज्वाल को जिस प्रकार प्रज्वलित करती हैं, उसी प्रकार ईर्षा की अनवरत आहुतियाँ कौरवों के अहंकार की ज्वालाओं को प्रतिक्षण उत्तेजित कर रही थीं।

पाण्डवों के समुदाय में वासुदेव श्रीकृष्ण को सम्मान प्राप्त था। वहां उनका परामर्श सुना और माना जाता था। युद्ध की विभीषिका से कुरुवंश को बचाने का अभिप्राय लेकर जब श्रीकृष्ण शान्तिदूत के रूप में कौरव-सभा में जाने को प्रस्तुत हुए तब संधि-वार्ता के लिये पाण्डवों ने उन्हें अपनी ओर से सारे अधिकार समर्पित कर दिये थे।

पाण्डवों के मन में कोई हठाग्रह नहीं था। कृष्ण की तरह वे भी अपने वंश की रक्षा के लिये, और स्वजनों की जीवन-रक्षा के लिये चिन्तित थे। विनाश की इस भँवर से बचाकर ही वे कुरुवंश की नाव को आगे खेना चाहते थे। इसीलिये उन्होंने अपने आपको "कृष्णार्पित"

कर दिया था। वासुदेव कृष्ण के द्वारा सुझाया गया कोई भी विकल्प स्वीकार करने के लिये वे तैयार थे।

दूसरे पक्ष की स्थिति इसके ठीक विपरीत थी। कौरव-पक्ष में वासुदेव कृष्ण का परामर्श मानना तो दूर की बात, सम्मान-पूर्वक सुना भी नहीं गया। अपनी दुराकाँक्षाओं की पूर्ति के लिये हर प्रकार की अनीति पर आमादा, अहंकारी कौरवों को, कृष्ण बहुत बौने दिखाई दिये। उनकी मंत्रणा सुनने योग्य नहीं समझी गई। उनके सत्परामर्शों का मखौल उड़ाया गया और भाँति-भाँति से उनका तिरस्कार किया गया। उन्हें बंदी बनाने की धमकी भी दी गई।

कृष्ण की मान्यता थी कि पाण्डवों के अधिकारों की बलि देकर भी, निकल सके तो किसी प्रकार समझौते का मार्ग निकाला जाना चाहिए। जैसे बने तैसे वे इस महायुद्ध को टालकर आर्यावर्त को इस महाविनाश से बचाने के लिये बेचैन थे।

यही कारण था कि वासुदेव ने धृतराष्ट्र से, जो वास्तव में एक स्थानापन्न नरेश था, सिंहासन खाली कराने का प्रस्ताव न करके; पाण्डवों के लिये मात्र आधे राज्य का ही प्रस्ताव रखा था। संधि-वार्ता के अंतिम दौर तक युद्ध को टालना ही उनका मुख्य अभिप्राय बना रहा। यह कृष्ण की सदाशयता, सहिष्णुता और शान्ति-प्रियता का प्रतीक था। उन्होंने कौरव-सभा में अपने आने का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा था– "हे भारत! कौरवों और पाण्डवों में योद्धाओं का प्राणनाश किये बिना ही शान्ति हो जाये, यही प्रयत्न करने, यही याचना करने के लिये, मैं इस सभा में आया हूँ।"–

कुरुणां पाण्डवानां च शमः स्यादिति भारत।
अप्रणाशेन वीराणां एतद् याचितुमागतः।।

–महाभारत, 93/3

परन्तु अहंकार की अंतर्गर्जना से बहरे कानों में शान्ति-प्रस्ताव की शब्दावली प्रवेश ही नहीं कर पाई। सौजन्य-रहित और अपमानित करने वाले शब्दों से श्रीकृष्ण का स्वागत हुआ। उस दिन उस सभा में विफलता ही वासुदेव को मिली।

कृष्ण स्वयं अतिशय पराक्रमी महावीर थे। परन्तु जहां पारिवारिक कलह के द्वारा वंश का ही विनाश होने की आशंका हो, वहां सारे पूर्वाग्रह छोड़कर, मानापमान को भी भुलाकर, एक सच्चे

हितैषी के नाते उन्होंने इस विनाश को टालने का शक्ति भर प्रयास किया था। जब संधि कराने में सफलता नहीं मिली, युद्ध अनिवार्य हों गया, तब भी उन्होंने शस्त्र-ग्रहण नहीं करने की प्रतिज्ञा लेकर ही उस युद्ध में भाग लिया।

वासुदेव का यही रूप उन्हें महाभारत के सभी पात्रों से ऊपर् उठा देता है। यहीं उनका व्यक्तित्व भीष्म-पितामह के व्यक्तित्व से भी ऊंचा, आदरणीय और अनुकरणीय दिखाई देने लगता है। वे सहज ही संस्तुत्य लगने लगते हैं।

कौरवों की सभा विशाल थी। उसमें अनेक महर्षि, महारथी और पराक्रमी व्यक्ति उपस्थित थे। परन्तु उनमें एक भी ऐसा दूरदर्शी नहीं निकला जो अपनी बुद्धि के जागृत होने का प्रमाण देता। जो समय के संकेत को समझ पाता। प्रायः वे सब दुर्योधन के अहंकार की आँधी में डगमगा कर, विकलांग की भूमिका निभाने के लिये अभिशप्त थे।

उस सभा में कोई क्रोधान्ध होकर नेत्रों की ज्योति खो बैठा था, किसी को घमण्ड ने बहरा बना दिया था। कोई जन्मजात नेत्रहीन था और किसी के नेत्रों पर आकाँक्षाओं की पट्टी बँध रही थी। रिश्ते-नाते कुछ को बंधन बनकर जकड़े बैठे थे और कुछ की निष्ठाएं व्यसन बनकर समूचे वंश को बलात् विनाश की ओर ढकेल रही थीं। लिप्सा ने उनमें अधिकांश का विवेक हरण कर लिया था। जो शेष बचे थे, व्यामोह की बात-व्याधि ने उन्हें पंगु बन दिया था। स्वस्थ्य मानसिकता और सबल संकल्प-शक्ति उस स॰॰ में किसी के पास नहीं थी।

अन्तिम प्रयास : विराट् का दर्शन—

ऐसी दुराग्रह-ग्रस्त सभा में वासुदेव की बात कौन सुनता? कृष्ण तो उनमें से एक-एक के भीतर सोया हुआ मनु॰ त्व जगाना चाहते थे। सबके विवेक को झकझोरना चाहते थे। परन्तु ॰ ब उन्हें सफलता नहीं मिली तब उन्होंने उसी सभा में अपना विरा -रूप प्रदर्शित करके दुराग्रहों को तोड़ने का अन्तिम प्रयास किया। ॰रन्तु उससे कोई लाभ नहीं हुआ। क्षण भर के लिये दुर्योधन के मन में भय तो व्याप्त हु॰, उसके माथे पर पसीना तो आया, परन्तु कृष्ण के कौरव-सभा से बा॰र जाते ही वह आतंक समाप्त हो गया। दूसरे ही क्षण दुर्योधन उन्हें इन्द्रजालिया और छलिया कह कर उनका मखौल उड़ाने लगा।

यहां यह स्मरण करें कि ऐसा विराट्-रूप श्रीकृष्ण ने एक बार और दिखाया था। युद्ध-भूमि में अर्जुन की हताशा दूर करने के लिये, उसे अनुत्साह के अंधकार से मुक्त करने के लिये, गीता का उपदेश देते हुए बीच में उन्होंने अर्जुन को विराट् रूप की एक झाँकी दिखाई थी। यहां कृष्ण को असफल नहीं होना पड़ा। अर्जुन पर उस दृश्य का वांछित प्रभाव पड़ा। इसका कारण यह था कि दृश्य-दर्शन के पूर्व ही, वासुदेव के उपदेशों को हृदयंगम करके, अर्जुन ने दृष्टि प्राप्त कर ली थी। भागवत् के इन दोनों प्रसंगों को एक साथ स्मरण करके हम आंतरिक दृष्टि की महत्ता को भलीभाँति समझ सकते हैं।

विराट् का दर्शन दुर्योधन के मन पर कोई प्रभाव न डाल सका इसमें किसी का कोई दोष नहीं था। कारण मात्र यह था कि दृश्य तो वहां था परन्तु देखने वाली दृष्टि नहीं थी। दृश्य को सही संदर्भ में समझने के लिये सही दृष्टि जब तक प्राप्त नहीं होगी, तब तक हम दुनिया की ऊपरी चमक-दमक पर लुभाने वाले कोरे तमाशबीन, मात्र दर्शक ही बने रहेंगे। उसकी वास्तविकता को नहीं समझ पायेंगे। दृष्टा नहीं बन पायेंगे। और संसार को सही संदर्भ में समझने के लिये दृष्टा होना आवश्यक है। मात्र दर्शक होना उसके लिये पर्याप्त नहीं होता।

विराट्-रूप का दर्शन-प्रसग कोई जादू या चमत्कार नहीं है। वह विश्व की सहज वास्तविकता ही है। हम सब का एक लम्बा भूतकाल होता है, एक क्षण का वर्तमान होता है और एक दीर्घकालीन भविष्य होता है। हमारी दृष्टि प्रायः अपने वर्तमान तक ही सीमित होती है। बहुत हुआ तो हम अपने जन्म से लेकर मृत्यु तक अपने आपको, या इस जगत को देखना-जानना चाहते हैं। श्रीकृष्ण ने इसी विश्व-व्यवस्था को, उसके भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों काल की परिणति सहित दिखाने का जो उपाय किया, उसी का नाम विराट्-रूप दर्शन है।

कौरवी दुराग्रह—

वासुदेव कृष्ण सही अर्थों में शान्तिदूत थे। उन्होंने महाभारत का युद्ध टालने के लिये अपनी शक्ति भर सारे प्रयास किये। जब सफलता की कोई आशा न रही तब, कुरुवंश को सर्वनाश के कगार पर खड़ा देखकर, वे द्रवीभूत हो उठे। उन्होंने धृतराष्ट्र के सामने यहां तक याचना की कि— "आप मात्र पाँच ग्राम ही दे दें, हम पाण्डवों को उतने में ही संतुष्ट कर लेंगे और यह संघर्ष टल जायेगा।"

परन्तु कौरव-सभा में किस के पास थे वे कान जो भविष्य की आहट सुन पाते। किसके पास थी वह दृष्टि जो आने वाले विनाश की आँधी के संकेत लख पाती। सत् और असत् का विवेक तो उस सभा से बहुत पहले ही तिरस्कृत और निष्कासित हो चुका था। इसीलिये तो दुर्योधन के मुख से कृष्ण को ऐसा दुराग्रही उत्तर सुनना पड़ा कि– "माधव! सुई की नोंक जितनी धरती को वेधती है, पाण्डवों के लिये उतनी धरती का परित्याग करने के लिये भी हम तैयार नहीं हैं–"

यावद्धि सूच्यास्तीक्ष्णाया विध्येदग्रेण माधव।
तावदप्य परित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान्प्रति।।

–महाभारत 125/26

दुराग्रह से भरे इस उत्तर के उपरान्त कुरुक्षेत्र के मैदान में जो घटित हुआ, उसे हम सब जानते हैं। हठाग्रह और विवेक-हीनता की वह कथा भिन्न-भिन्न माध्यमों से बार-बार दोहराई जा चुकी है और आज भी दोहराई जा रही है। उस सबको यहां पुनः प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है।

परन्तु मेरी बात यहां समाप्त नहीं होती। वह तो अब प्रारम्भ होती है।

अपना-अपना महाभारत–

यह समझ लेना शायद ठीक नहीं होगा कि महाभारत की घटाएं हजारों साल पहले हस्तिनापुर के आकाश में घिरीं और अठारह दिन तक कुरुक्षेत्र पर बरस कर समाप्त हो गईं। यदि हम यह समझ लें कि टकराव की विभीषिका और विनाश के आतंक से हम सर्वथा मुक्त हो गये हैं तो हमारी यह समझ हमारे ही लिये अशुभ और अमंगल हो सकती है।

हमारे सामने, नहीं, सामने नहीं, हमारे भीतर आज भी एक और युद्ध-भूमि सज रही है जो नितान्त हमारी अपनी है।

एक और महाभारत की भूमिका वहां निरंतर बन रही है जिसका आतंक आंठों याम आज हमारे मन-मस्तिष्क को अशान्त और आतंकित किये हुए है। वह हमारा अपना महाभारत है।

विप्लव की वह चिनगारी किसी भी क्षण हमारे भीतर सुलग सकती है। उसकी लपटों में हमारा सब कुछ स्वाहा हो सकता है।

इस त्रासदी का शिकार कोई अकेला नहीं होगा। न मैं, न तुम, न वे। हम में से कुछ लोग ही उसके शिकार हों ऐसा भी नहीं है।

पूरी मानवता इस त्रासदी का शिकार होने जा रही है।

हम सब इस आत्मघाती वृत्ति की व्यथा से व्यथित हैं। इस विनाशक आतंक से आतंकित हैं। हम सब के भविष्य पर विनाश के वे काले बादल मंडरा रहे हैं।

यदि हम आज और अभी चेतते नहीं हैं तो एक दिन यह महाभारत भी घटित होकर रहेगा। तब हम में से कोई किसी की सहायता नहीं कर पायेगा, क्योंकि जिस महाभारत की हम बात कर रहे हैं वह तो हमारे भीतर घटित होगा। वह हमारा नितान्त अपना, एक दम "एक्सक्लूसिव्ह" महाभारत होगा और उसके लिये हमारे पास होंगे "अपने-अपने कुरुक्षेत्र।"

आइये एक बार अपने भीतर झाँकने का साहस तो करें।

कैसा है हमारा हस्तिनापुर–

आज हमारी देह ही हमारा हस्तिनापुर है ।

संशय में डोलता मन ही उसका सिंहासन है ।

अंधी वासनाओं का धृष्ट-धृतराष्ट्र न जाने कब से इस सिंहासन का अनधिकृत स्वामी बना उस पर शासन कर रहा है।

दुराग्रह का दुर्योधन उसे पग-पग पर प्रभावित करता है, और स्वयं नीति की दिशा में कहीं, तनिक भी, झुकने के लिये तैयार नहीं है।

दुराचार के दुःशासन ने आस्तिक्य की पांचाली को बड़ी पीड़ा दी है। बहुत अपमानित किया है।

कुण्ठा का कर्ण बहुत कठोर बन बैठा है। समय की पुकार उसके कानों तक पहुंच ही नहीं पा रही। इससे बड़ी विडम्बना और हो भी क्या सकती है कि सूर्य का पुत्र, एक जन्मांध के बेटों की सेवा के लिये अभिशप्त है। उनके नियंत्रण में जी रहा है।

विद्रोह का विकर्ण अकेला पड़ गया है। उसका स्वर बलात् दबा दिया गया है। वह विवश गूंगा बना बैठा है।

पंचशील के पाण्डव यहां से कब के निष्कासित हो चुके हैं।

संवेग की गांधारी, नेत्रवती होते हुए भी, दृष्टिहीन होकर जीने का संकल्प लिये बैठी है। उसकी आँखों पर "आत्म-विस्मृति" की पट्टी बँधी हुई है।

करुणा की कुन्ती, मातृत्व के आँचल को, लांछन की लपटों में झुलसता देखकर, भीतर ही भीतर विदग्ध हुई जा रही है।

विवेक के विदुर ने अपने आपको स्वेच्छा से निष्कासित कर लिया है। हठाग्रहों के नक्कारखाने में उसकी वाणी सुनने वाला कोई नहीं है।

प्रशम का पितामह, प्राणहीन-परम्पराओं का दास बना, किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो रहा है। उसका मनस्ताप प्रतिक्षण उसे जला रहा है।

परन्तु आशा के आकाश में अनुत्साह का अंधकार अभी पूरी तरह घिरा नहीं है। प्रकाश की किरणें सर्वथा विलीन नहीं हुई हैं। वह रजत-रेखा कहीं-कहीं अब भी दिखाई पड़ती रहती है।

आज भी वात्सल्य के वासुदेव हमारे लिये प्रेम और सह-अस्तित्व का परामर्श निरंतर प्रस्तुत कर रहे हैं।

विनाश को टालने के लिये, और शान्ति-स्थापना के लिये, उनके चिरन्तन प्रस्ताव दसों-दिशाओं से आकर बराबर हमारे हस्तिनापुर में गूंज रहे हैं।

कभी गीता और रामायण के माध्यम से वे प्रेरक-प्रस्ताव हम तक आ रहे हैं। कभी पुराणों और संहिताओं में से प्रकट होकर वे पुण्य-परामर्श प्रस्तुत हो रहे हैं।

कहीं ऋषियों-मुनियों, और संतों की वाणी में, उनके उपदेशों में, वह शास्वत सन्देश हमें सुनाई दे रहा है। कहीं मन्दिर में से भगवत् नाम का कीर्तन उस भावना की अनुगूंज बनकर चहुँदिश व्याप्त हो रहा है। कहीं आरती का दीप, अपनी प्रकम्पित ज्योति-शिखा से वह प्रकाश-रेख हम तक पहुंचा रहा है।

वासुदेव का परामर्श शास्वत है—

लगता है लोक-वत्सल वासुदेव, सहज मानवीय प्रेरणा का रूप धरकर, हमारे अन्तस में बार-बार अवतरित हो रहे हैं। भाँति-भाँति से हमें अनुप्राणित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। जनहित की भावना और लोक-कल्याण की कामना, वंशी की टेर बनकर उनके संकल्प को हम तक पहुंचा रही है।

स्वर भले ही बदल गये हो, भाषा भले ही भिन्न लगती हो, पर हमारे अन्तस के महाभारत को टालने के लिये उनका परामर्श वही है।

हमारे हित के लिये वात्सल्य का वासुदेव, कितने रूपों में, कितनी बार, हमारे सामने प्रस्तुत हो रहा है। उसकी मांग भी वही है– "हम मात्र पाँच ग्राम ही तज दें तो शेष सारा साम्राज्य हमारा है।"

उन्होंने तो उन पाँच ग्रामों का नाम भी बार-बार दोहराया है। हमें समझाने का प्रयास किया है कि वे ग्राम मात्र दरिद्रता के ही आगार हैं। खर-पतवार और कूड़ा-करकट के सिवा वहां कुछ भी तो उत्पन्न नहीं होता। कण्टकों की कसक, वासना की बाढ़, उद्वेगों की आँधी और पश्चात्ताप की दाह के सिवा उन ग्रामों से हमें न कभी कुछ मिला है, न मिल सकता है। उन ग्रामों की यही फसल है।

तब वे व्याधि-मूलक गाँव तज कर, विप्लव की विभीषिका से मुक्त होकर, जीने की समझदारी हम क्यों नहीं दिखा पाते? हम पहचानते क्यों नहीं कि कौन से हैं वे पाँच गाँव जिन पर से आसक्ति छोड़कर, जिनसे मन मोड़कर, हम अपने हस्तिनापुर को सुरक्षित और सुखी बना सकते हैं। अपने कुरुक्षेत्र को विस्फोट से बचा सकते हैं। वे ग्राम कहीं अन्यत्र नहीं, हमारे भीतर ही बसे हैं। उनके नाम हैं--

1. हिंसा
2. झूठ
3. चोरी
4. कुशील और–
5. परिग्रह.

कषायों से उपजते हैं पाप–

दार्शनिकों ने कर्म के उदय को विकार का कारण माना है। यह कर्म राग-द्वेष-मोह रूप, अथवा मिथ्यात्व-क्रोध-मान-माया-लोभ रूप तो बताया गया है, परन्तु हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील और परिग्रह रूप कोई कर्म नहीं कहा गया। इससे स्पष्ट है कि ये पाँच पाप न बंधते हैं, न उदय में आते हैं। कर्म रूप में जीव के साथ बंधना और प्रारब्ध बनकर उदय में आना कषायों में ही होता है।

कषायों के उदय में जीव के परिणाम हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील और परिग्रह आदि रूप हो जाते हैं। अतः कषायों से निवृत्ति ही पाप-त्याग का अभिप्राय है। पाँच व्रत धारण करके पाँच पापों को छोड़ने का उपाय वास्तव में क्रोध-मान-माया-लोभ को छोड़ने का ही

उपाय हैं। इन्हीं चार कषायों में से पाँच पाप उत्पन्न होते हैं और इन्हीं से उनके प्रवाह को शक्ति प्राप्त होती है। यही कषाय जीव की शक्तियों को विकारी बनाकर उनका पाप-रूप परिणमन कराते हैं।

क्रोध-मान-माया-लोभ में प्रभावित मन-वचन-काय की विकृत-प्रवृत्तियां पाप हैं। जो पतन की ओर ले जाये वही तो पाप है। मन की इन्हीं पाप-वृत्तियों को पाँच प्रकारों में विभाजित करके मुख्यतः पाप पाँच कहे गये हैं--

1. हिंसा : "प्रमत्त योगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा"

किसी के मन को क्लेश पहुंचाना और शरीर को पीड़ा पहुंचाना, या प्राण हरण कर लेना हिंसा है।

2. असत्य : "प्रमत्त योगात् असदभिधानं अनृतम्"

अपने स्वार्थ के लिये किसी तथ्य को, जैसा वह नहीं था, या नहीं है वैसा निरूपित करना, असत् का पोषण करना और दूसरे को क्लेश या आघात पहुंचाने वाले शब्दों का प्रयोग करना असत्य है। छल-कपट, जालसाजी और मिलावट आदि भी इसी परिभाषा में आते हैं।

3. चोरी : "प्रमत्त योगात् अदत्ताऽदानं अनृतम्"

अनधिकृत रूप से पराई वस्तु को ग्रहण करना, किसी के तन या धन में लालच का भाव रखना तथा राजकीय नियमों का उल्लंघन करके सम्पत्ति अर्जित करना चोरी है। टैक्स की हेराफेरी, घूसखोरी और स्मगलिंग भी चोरी के अंतर्गत आती हैं।

4 कुशील : "मैथुनं अब्रह्म"

समाज-मान्य दाम्पत्य की सीमा तोड़कर किसी महिला या पुरुष के साथ वासनात्मक लगाव रखना, व्यभिचार में लिप्त होना और परस्पर की मर्यादाओं तथा सौजन्य के विरुद्ध व्यवहार करना कुशील है।

5. परिग्रह : "मूर्च्छा परिग्रहः"

धन सम्पदा तथा ऐसे ही अन्य पदार्थों के लिये मन में असीम आकांक्षाएं पालना, अपनी आवश्यकता से अधिक पदार्थों का संग्रह

करना और अनीति-पूर्वक कमाई करना परिग्रह नाम का पाँचवाँ पाप है।

ये पाँचों पाप हमारे जीवन में क्रियात्मक रूप से जितने हो पाते हैं, उससे कई गुना अधिक मानसिक रूप से होते रहते हैं। शरीर-बल की बहुत सी सीमाएं हैं। परन्तु मन की गति की कोई सीमा नहीं है। इसलिये मन के माध्यम से अधिक पाप होते हैं।

इन पापमय विचारों से, अथवा अनैतिक संकल्पों से हम अपने लिये दुखद कर्मों का बन्ध कर लेते हैं। समय आने पर उनका फल हमें भोगना पड़ता है। इससे बचने का एक ही उपाय है कि हम पापमय चिन्तन से, और पाप की क्रियाओं से अपने आप को बचाने का प्रयास करें।

हम भला या बुरा जो कुछ भी करना चाहते हैं उसे एक नियमित पद्धति से ही कर सकते हैं। पहले उस कृत्य के बारे में हम मन में विचार और संकल्प करते हैं, फिर वाणी तथा अन्य साधनों के द्वारा उस काम को करने की संयोजना करते हैं। अन्त में शरीर तथा अन्य भौतिक साधनों से वह संकल्पित काम पूरा करते हैं। इस प्रकार हमारे सभी कर्म क्रमशः मन, वाणी और शरीर के माध्यम से सम्पन्न होते हैं।

इस विश्लेषण से यह भी निश्चित हुआ कि जब विकारी प्रवृत्तियां हमारे जीवन में उतरती हैं तब उनसे हमारे मन, वचन और काय तीनों दूषित होते हैं। इन्हीं दोषों का फल अशुभ-कर्म के रूप में, या पाप के रूप में, हमारे साथ बंध जाता है। वही कर्म परिपाक के समय "प्रारब्ध" के रूप में उदित होकर अपना फल देता है। जिससे पुनः विकारों का उदय होता है। इसलिए मन, वचन और काय, इन तीनों की वृत्तियों को पाप से रोकना हमारे हित में है। पाप-वृत्तियों को रोकना ही धर्म है। उन्हें रोकने का संकल्प ही "व्रत" है। उन्हें छोड़ने का नाम ही "त्याग" है।

हमारे जीवन को कलंकित करने वाले यही पाँच पाप हैं। हमारे भीतर उथल-पुथल मचाकर अशांति उपजाने वाले यही पाँच विकार हैं। समाज में तरह-तरह का प्रदूषण फैलाने वाले यही पाँच दुष्कृत्य हैं। जाने या अनजाने, ये पाँच पाप हमारे जीवन में हम से हो रहे हैं। एक ही क्षण में इन्हें पूरी तरह छोड़ देना सम्भव नहीं है, परन्तु इनका जहरीलापन यदि समझ में आ जाये तो इनके छोड़ने का संकल्प तो अभी किया जा सकता है। यहीं और इसी क्षण।

जीवन के उत्कर्ष के लिए इन पाँच-दुष्प्रवृत्तियों का विसर्जन अनिवार्य है। सही अर्थों में "मनुष्य" का जीवन जीने की ये पाँच अनिवार्य शर्तें हैं।

इन्हीं पाँच शर्तों को मनवाने के लिये संसार में पचास हजार से अधिक कानून बनाये गये हैं। जब, जिसे, जहां भी अपराधी घोषित किया जाता है, इन पाँच में से ही किसी के उल्लंघन के कारण किया जाता है। मनुष्य के जीवन में जो भी विसंगतियां होती हैं वे इन पाँच मर्यादाओं के उल्लंघन से ही प्रारम्भ होती हैं।

ये पाँच दुष्प्रवृत्तियां जिसने छोड़ दी हों, या उन पर काबू पा लिया हो, संसार का कोई कानून उसे गुनहगार साबित नहीं कर सकता। उसका जीवन तनाव रहित, पवित्र, सरल और संतोष से भरा-पूरा होगा।

कुसंस्कार ही कौरव हैं--

ऐसा नहीं है कि हम अपने दोषों से अनजान हैं, या हम यह विनाशक संघर्ष टालना नहीं चाहते। हम कौरव नहीं हैं, परन्तु कुसंस्कारों के सौ-सौ उदण्ड कौरव, जो जन्मान्तरों से हमारी मनोभूमि पर काबिज बने बैठे हैं, वे हमारी एक भी चलने नहीं देते। हम बार-बार चाह कर भी, अपने हित की किसी बात पर विचार तक नहीं कर पाते।

कौरवों और पाण्डवों का सारा विवाद भूमि को लेकर ही तो था। अब भूमि की ही बात करें। क्या यह धरती कभी किसी की हुई है? यह तो शास्वत और नित्य है। इसका अस्तित्व कभी किसी के स्वामित्व का आकाँक्षी नहीं रहा। सबके स्वामित्व खण्डित हो जाते हैं, पर पृथ्वी तो अखण्डित ही बनी रहती है। क्या कोई कभी इसे बाँट सका है? नहीं।

इस धरा का एक छोर "कन्या-कुमारी" कहलाता है। वह बहुत सार्थक नाम है। बड़-बड़े आक्रान्ताओं और विजेताओं ने इसकी छाती पर खड़े होकर अपने आपको पृथ्वीपति घोषित किया तब इस धरा ने कुछ नहीं कहा। सब कुछ चुपचाप सहा। फिर एक दिन वे सब अशक्त और अबोध शिशु की तरह इसी की गोद में सो गये। उनका सब कुछ इसी धरा पर धरा रह गया। इसने कभी किसी का स्वामित्व स्वीकार नहीं किया। इसका नाम ही यह घोषित करता रहा कि इसका कोई पति,

कोई स्वामी, न कभी था, न है, न कभी हो सकेगा। यह तो सदा कुमारी है। "कन्या-कुमारी"। तब क्या हमारे सारे विवाद मिथ्या नहीं हैं?

यह हमारा भाग्य है कि हमारे मन में ही, किसी न किसी रूप में, कृष्ण आज भी बोल रहे हैं। हमारा विदुर भी मरा नहीं है। परन्तु इन दोनों की वाणी इस सभा में हर बार अनसुनी रह जाती है। उनके सारे कल्याणकारी परामर्श इन कुसंस्कारों के कोलाहल में जाने कहां विलीन हो जाते हैं। बार-बार गूंजते हैं पर हर बार खो जाते हैं। या फिर उनकी निश्छल प्रस्तावनाएं कपट-कपाटों से रुद्ध हमारे कानों तक पहुंच नहीं पातीं। हमारे वर्तमान की यही सबसे बड़ी त्रासदी है।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, ये पाँच ग्राम तजकर यदि यह विनाशक-संघर्ष टाला जा सकता है, तो हमें वैसा करना ही चाहिये।

इन्हीं पाँच पाप-वृत्तियों के परिचय के साथ हम आगे बढ़ेंगे।

□

पाँच पाप : पाँच ग्राम

हमने यह पहचानने का प्रयास किया है कि हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह ही वे पाँच पाप-ग्राम हैं जिनका त्याग करके हम अपने भीतर दहकते हुए कुरुक्षेत्र को "शान्ति-क्षेत्र" में परिवर्तित कर सकते हैं।

जिस प्रकार यह निश्चित किया गया था कि हम कौरव नहीं हैं, परन्तु कुसंस्कारों के सौ-सौ कौरव, जो हमारी मनोभूमि पर काबिज होकर बैठे हैं, वे हमें कृष्ण का सन्देश सुनने-मानने नहीं देते। उसी प्रकार यह निश्चित करना चाहिये कि हम पापी नहीं हैं, परन्तु राग-द्वेष और मोह के कुसंस्कार, या अविद्या के कुसंस्कार न जाने कब से हमारी भाव-भूमि पर अधिकार जमाकर बैठे हुए हैं। उन्हीं के द्वारा इन पाँच पाप-वृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता रहता है, और वे हमारे जीवन को दूषित करती रहती हैं।

यहां यह सोचने से काम नहीं चलेगा कि "हम तो पाप करते ही नहीं।" अपने आपको सूक्ष्मता से परखेंगे तो पता चलेगा कि पिछले जन्मों में बांधे हुए पाप-कर्मों के कारण हमारे चेतन और अवचेतन मन में निरंतर पाप-वृत्तियों का उदय होता रहता है। जरा सी असावधानी होते ही वे संस्कार मन, वाणी और शरीर के स्तर पर प्रगट होकर हमें इन पाप-ग्रामों में भटकाते रहते हैं। इनसे बचने के लिये इनके प्रति निरंतर जागरूकता और सावधानी की आवश्यकता है।

पाप-भावनाओं से बचने के लिये, यह सावधानी कैसे प्राप्त की जा सकती है? इस संघर्ष-मय जीवन में,अपनी वर्तमान परिस्थितियों में, अपने आपको कैसे संयमित किया जा सकता है? ये प्रश्न हम सबके प्रश्न हैं। आइये इन पर कुछ विचार करें।

कहाँ से आते हैं पाँच पाप–

हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील और परिग्रह ये पाँचों पाप पहले हमारे मन में कषाय-भावनाओं में से जन्म लेते हैं। फिर बाद में वाणी और देह

के स्तर पर इनका प्रवर्तन होता है। कषाय-भाव मूलतः चार कहे गये हैं– क्रोध-मान-माया और लोभ। यही चार विकारी प्रवृत्तियाँ मन में सारे पापों को जन्म देती हैं।

कब कौन सा पाप कितना भारी या हल्का होगा यह भी कषायों के आवेग की तीव्रता या मंदता पर निर्भर करता है। हमारे परिणाम क्रोध और मान से जितने अधिक प्रभावित होंगे, उतनी ही अधिक हिंसा-झूठ आदि में हमारी प्रवृत्ति होगी। माया और लोभ कषाय की तीव्रता के अनुरूप चोरी-कुशील और परिग्रह की प्रवृत्ति होगी। यह वर्गीकरण सामान्य रूप से किया गया है। वैसे चारों कषाय-भाव पाँचों पापों की उत्पत्ति में समर्थ हैं और उनके कारण बनते हैं।

कषाओं की जननी है अविद्या। अनादि काल से अविद्या के संस्कार ही क्रोध-मान-माया-लोभ आदि विकारों की उत्पत्ति करके जीव को पाप-मार्ग पर ढकेलते रहते हैं। जैनाचार्यों ने अविद्या को मिथ्या-दर्शन, मिथ्यात्व और मोह के नाम से व्याख्यापित किया है। उनकी मान्यता है कि क्रोध-मान-माया-लोभ की चौकड़ी को मोह से ही स्थायित्व मिलता है। इन कषायों में जीव को अनन्त-काल तक संसार परिभ्रमण की सामर्थ्य, मिथ्यात्व की संगति से ही प्राप्त होती है। इसी के प्रभाव से आत्म-विस्मृत होकर प्राणी अनादिकाल से संसार में भटक रहा है–

मोह महा-मद पियौ अनादि,
भूल आपको भरमंत वादि।

छहढाला/1/4

पाँच पापों की पहचान करके उनके त्याग का संकल्प तभी पूरा हो सकेगा जब हम उन्हें उत्पन्न करने वाली अविद्या, और क्रोध-मान-माया-लोभ इन चार कषायों के बारे में जानकारी प्राप्त कर लें।

अविद्या ही दृष्टि-हीनता है–

अपने आपको पहचानने के लिये और अपने भीतर उठने वाली पाप-तरंगों को शान्त करने के लिये सम्यक् और संयत "दृष्टि" आवश्यक है। अविद्या के रहते, अथवा मिथ्यात्व के रहते, वह दृष्टि प्राप्त होना सम्भव नहीं है। वह दृष्टि प्राप्त कर लेना साधना के लिये सर्वाधिक-महत्वपूर्ण है।

कौरवों की सभा में "विराट्-रूप" दिखाकर अपनी बात समझाने का वासुदेव कृष्ण का प्रयत्न जिस कारण से निष्प्रभावी रहा था, अविद्या ही वह कारण था।

हमारी भी यही समस्या है। सारा दृश्यमान जगत हमारे सामने है। हम स्वयं उत्कण्ठित-दर्शक बनकर उसके रहस्यों के भीतर झांकना चाहते हैं। परन्तु "दृष्टि" हमारे पास नहीं है। अविद्या के अनादि-कालीन संस्कारों ने यथार्थ को पहचानने वाली हमारी दृष्टि को विकृत कर दिया है। हमारी आस्थायें खण्डित और विपरीत हो गई हैं। हमारी समझ तरह-तरह के द्वन्द्वों में भ्रमित हो गई है। इसका कुफल यह हुआ है कि जो हमारे लिए हितकारी है, वह सब हमें अप्रिय लगने लगा है। और जो हमारे लिये निरन्तर अहित का हेतु है, हमें चारों गतियों में भटकाने वाला है, वह सब हमें अत्यन्त प्रिय लगता है। हम उसे ही हितकर समझने लगे हैं।

सबसे पहले हमें वह दृष्टि प्राप्त करनी होगी जिसके द्वारा हम विद्या और अविद्या की पहचान कर सकें। जिसके द्वारा हम सम्यक् और मिथ्या का विवेक कर सकें। जिसके द्वारा हम हितकर और अहितकर का अन्तर देख सकें। जिसके द्वारा हम अपनी निज की सम्पदाओं को, और अपने विकारों को निर्भ्रान्त होकर परख सकें।

इसके लिए हमें अविद्या के कोहरे में से अपने आपको निकालना होगा।

आत्म-विस्मृति ही अविद्या है—

एक कवि ने अविद्या को सारे प्रपंचों की जड़ बताते हुए कहा है— "मित्र, सपनों की रंगीनियों में, इन्द्रजाल या जादू की विशेषताओं में, बिजली की चमक में, प्रकाश और छाया के विलास से बनते-बिगड़ते चित्रों में, यंत्र निर्मित दृश्यों में और गगनपुरी में भी कोई चमत्कार नहीं है। ये सब तो किसी न किसी नियम से बंधे, किसी एक स्थान पर, थोड़े समय तक ही अपना विलास दिखाते हैं। चमत्कार देखना है तो तू इस अविद्या की ओर क्यों नहीं देखता जो सर्वत्र व्यापक और सदा विद्यमान होते हुए भी क्षण भर दिखाकर तत्काल नष्ट होने वाली चेष्टाओं से युक्त है।"—

किं स्वप्नेन किमिंद्रजालकलया विद्युद्विलासेन किं
छायाक्रीडनकेन किं किममुना यंत्रप्रयोगेण च ।
किं गंधर्वपुरेण तानि नियतान्यालोकत्रय व्यापिनी
लोके तत्क्षण दृष्टनष्टविलसच्चेष्टामविद्यालताम्।।

—कुमारकवि/आत्म-प्रबोध/38

अगले ही श्लोक में कवि ने अविद्या के विस्तृत परिवार का उल्लेख किया है—

— अहंकार इसी अविद्या का पुत्र है। ममता अहकार की पत्नी है।
— अपने और पराये संकल्प-विकल्प, इस दम्पति की यही दो संतानें हैं।
— संकल्प की पत्नी "रति" और विकल्प की पत्नी का नाम "अरति" है।
— संकल्प और रति से सुख नाम का पुत्र उत्पन्न होता है।
— विकल्प और अरति मिलकर दुख नामक पुत्र को जन्म देते हैं।

इस प्रकार यह अविद्या अपने विशाल और अमर परिवार के साथ निरंतर हमारे भीतर फल-फूल रही है।

एतस्या ममता कलत्रसहिताहंकारनामात्मजः
संकल्पौ स्वपरात्मकावथ तयोः पुत्रौः ततश्चेतयोः ।
भार्ये रत्यरती सुखासुखसुतप्रोद्भासिते इत्यहो
सन्तानेन सहाक्षयेण महती नन्दत्वविद्यां चिरम्।।

—कुमा कवि/आत्म-प्रबोध/39

जैनाचार्यों ने अविद्या को "मोह" कहा। कषायों को राग-द्वेष कहा। राग यानी माया और लोभ। द्वेष यानी क्रोध और मान। इस प्रकार उनकी परिभाषा में "राग-द्वेष-मोह" में सारे विकारों का समावेश हो गया। यही जीव के संसार-परिभ्रमण का मूल कारण कहे गये हैं। इनका त्याग ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ माना गया है।

प्रसिद्ध मानवतावादी संत श्री गणेश वर्णी कहा करते थे—

"जानने के लिये तीन लोक हैं। चाहे जितना जानते रहो। त्यागने के लिये तीन ही विकार हैं— राग, द्वेष और मोह। ये छूट जायें तो संसार की सारी व्याधियाँ छूट जायें। संसार ही छूट जाये।"

सिर चढ़कर बोलते हैं विकार–

लोग कई बार प्रेतबाधा की बात करते हैं। कहा जाता है कि एक प्रेतबाधा ऐसी होती है जिसके प्रभाव से किसी के घर-मकान में तरह-तरह के उपद्रव होते हैं। आग लग जाना, पत्थर बरसने लगना, बर्तन उलट-पलट हो जाना आदि उपद्रव अपने आप होते दिखाई देते हैं।

पर एक अन्य प्रकार की प्रेतबाधा भी कही जाती है जिसका प्रभाव सामग्री पर न होकर व्यक्ति के ऊपर होता है। जो इस बाधा से ग्रसित हो जाता है वह स्वयं पागलों जैसा बर्ताव करने लगता है। अपना आपा भूल कर यद्वा-तद्वा प्रवृत्ति करता है। निरर्थक प्रलाप करता है। चाहे जिस पर प्यार और चाहे जिस पर गुस्सा जताने लगता है। अकारण कभी रोता है और कभी खिलखिलाता फिरता है। शरीर से भी विकृत चेष्टाएं करता है और अंत में थक कर गिर जाता है।

हमारे साथ भी संसार में दो प्रकार के उपद्रव होते हैं। जिन उपद्रवों का प्रभाव हमारे शरीर पर, और शरीर के माध्यम से शेष चराचर जगत पर पड़ता है, जिनके कारण सामग्री का संयोग-वियोग होता है, पदार्थों के रूप बनते-विगसते दिखाते देते हैं, वह सब पहले प्रकार का विकार है। कहीं होनहार से, कहीं हमारे पुरुषार्थ से, और कहीं मात्र संयोगों से जगत में ये सारे तमाशे होते रहते हैं।

इन विकारों से पृथक, रोग-द्वेष-मोह से, अथवा मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया और लोभ के जोर से जो उपद्रव हमारे साथ होते हैं, वे दूसरे प्रकार की प्रेतबाधा की तरह होते हैं। इन मानसिक विकारों का उद्वेग हमारे सिर पर चढ़कर बोलता है।

मोह के नशे में हमारा विवेक निष्क्रिय हो जाता है, और बुद्धि निष्प्रभावी हो जाती है। हम अपने ही जनों के साथ विचित्र बर्ताव करने लगते हैं। अहंकार हो या क्रोध, मायाचारी हो या लालच, जब हम इनके वशीभूत होते हैं तब विक्षिप्त की तरह हमारा आचरण असंतुलित हो जाता है। फिर अपना-पराया, बुरा-भला, उचित-अनुचित और करणीय-अकरणीय, कुछ भी हमें सूझता नहीं है। इन विकारों के चक्र में फंस कर हम निरंतर अपना अहित करते रहते हैं। हमारा वर्तमान विकृत हो जाता है और उसी के साथ भविष्य के लिये दुखद कर्मों का बंध होता रहता है।

इन्हीं विकारों से हमारे द्वारा पराया विनाश भी होता रहता है। कई बार तो क्रोध या लोभ के अतिरेक में व्यक्ति आत्मघात भी कर बैठता है। संसार में अशान्ति या विक्षोभ उत्पन्न करने वाला जो ताण्डव होता है, वह सब इन्हीं चार कषायों से प्रेरित है।

कितना भटकाते हैं विकार–

विश्व-विजेता सिकन्दर भारतभूमि पर एक के बाद एक राज्यों को अपने अधीन करता हुआ आँधी की तरह बढ़ता चला जा रहा था। संतों-फकीरों को अपने पास बुलाकर उनकी खातिर करना या उनके पास जाकर उनसे उपदेश सुनना भी उसका एक शौक था।

एक दिन जहां उसके खेमे गड़ रहे थे, वहीं पास में किसी फक्कड़ संत का उसे पता चला। उसने संत को आदर सहित अपने पास बुलवाने का आदेश दिया। सिपहसालारों ने संत के पास पहुंच कर शहंशाह सिकन्दर का पैगाम उन्हें दिया। संत तो संत ही होते हैं, उनके लिये क्या राजा क्या रंक। उन्होंने उत्तर दे दिया– "हमें किसी शहंशाह के पास जाने की इच्छा नहीं।"

हाकिम ने समझाने की कोशिश की– "हुजूर शायद आपने सिकन्दर का नाम नहीं सुना। वे सारी दुनिया के बादशाह हैं। उनके पास जाने में तो आपका मान बढ़ेगा।"

संत नें अपनी आश्वस्त मुद्रा से एक बार सिपहसालारों की ओर देखा। चेहरे पर व्यंग्य की हल्की मुस्कान बिखेरते हुए उन्होंने कहा– "भाई, सिकन्दर को भला कौन नहीं जानता? मैं तो उसे अच्छी तरह जानता हूं। पर तुम शायद मुझे नहीं जानते। जिसे तुम शहंशाह कहते हो, वह सिकन्दर मेरे गुलामों का गुलाम है। जाकर कहना उससे कि अपने मालिकों के मालिक से जरा अदब से वात करना सीखे।"

सुनकर हाकिम हैरान रह गया। संत की निर्भीक और निश्चिन्त मुद्रा देखकर, उनके चेहरे पर खेलता हुआ फक्कड़पन देखकर, उसे कुछ भी कहने की हिम्मंत नहीं हुई। सिर नीचा किये वह लौटा और सारा वृतान्त अपने स्वामी को कह सुनाया। संत का उत्तर सुनकर सारे लोग सन्न रह गये। लगा कि अब क्यामत बरसने ही वाली है। पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। सिकन्दर ने निहायत धीमी आवाज में इतना ही कहा– "कोई बात नहीं। फकीर यहां नहीं आना चाहता तो हम खुद उसकी कदमबोसी के लिये वहां जायेंगे।"

दूसरे दिन सुबह जब सिकन्दर अपने कुछ लोगों के साथ संत की कुटिया पर पहुंचा तब वह महात्मा जाड़े की सुहानी धूप में बैठे इबादत कर रहे थे। विनय के साथ उनके सामने सिजदा करके सिकन्दर ने कहा– "मैं सिकन्दर, आपकी कुछ खिदमत करना चाहता हूं। मुझे कोई हुक्म दीजिये।"

–"यदि सचमुच खिदमत करना चाहते हो तो मेरी धूप छोड़कर एक ओर खड़े हो जाओ। इस समय तो यही मेरी बड़ी खिदमत होगी।" महात्मा का सीधा-सादा उत्तर था।

अपने आपको सम्हालते हुए सिकन्दर अदब से एक ओर हट गया और विनय के साथ उसने महात्मा से पूछा–

–"मेरे सिपाही यहां आये थे। उनके सामने आपने मुझे अपने गुलामों का गुलाम कहा। आपके साथ मेरा यह रिश्ता मैं समझ नहीं पाया। क्या आप इसका खुलासा करने की तकलीफ गवारा करेंगे? आपकी बड़ी मेहरबानी होगी।"

संत ने सिकन्दर और उसके साथियों को बैठने का इशारा किया। जब वे सब आराम से बैठ गये तब महात्मा जी ने सिकन्दर से कुछ सवाल पूछे–

–"सारी दुनिया को जीतने की हसरत लेकर तुम अपने घर से निकले हो न?"

–"जी, आपने बहुत सही क़यास किया है।" सिकन्दर का उत्तर था।

–"राह में जो राजे-महाराजे तुम्हारा मुकाबला करते होंगे उन पर तुम्हें गुस्सा जरूर आता होगा?"

–"बिना गुस्से के उन्हें हम जीत कैसे सकते हैं? उन पर अपना रुतबा जताने के लिये गुस्सा तो बहुत जरूरी है। वह तो एक बादशाह की मजबूरी है।" सिकन्दर की आवाज नरम पड़ती जा रही थी।

–"नये-नये मुल्क जीतने पर तुम्हारे मन में फतह का गुरूर भी आता होगा?"

–"जब एक गाँव की मालकियत पा लेने पर गुरूर आ जाता है, तब जाहिर है कि पूरे मुल्क पर अपना परचम लहराने पर फतह का गुरूर तो आता ही है। पर हुजूर यह सब पूछ क्यों रहे हैं?" अब सिकन्दर की उत्सुकता बढ़ने लगी थी।

—"बस एक सवाल और, अपनी इस बड़ी भारी फौज को घर से इतनी दूर, मरने-मारने के लिये तैयार रखना तो बड़ा मुश्किल काम है। जरूर तुम्हें इसके लिये कुछ अच्छे वादे उन सबके साथ करने पड़ते होंगे?"

—"यह तो बहुत सादा सी बात है। जब तक आने वाले कल की कोई खूबसूरत तस्वीर दिखाई न जाये, तब तक अपनी जिन्दगी कोई क्यों बरबाद करेगा? कुछ रंगीन ख्वाब तो उन्हें दिखाने ही पड़ते हैं।" सिकन्दर ने जैसे अपना कोई अपराध कबूल कर लिया।

उसकी बात पूरी होते ही संत ने मुस्कुराते हुए कहा—

—"तो यह हुआ तुम्हारा पूरा परिचय। तुमने तो खुद हामी भर दी है कि लालच, गुस्सा, गुरूर और दगाबाजी ये हमेशा तुम पर काबिज रहते हैं। यही तो तुम्हारी कामयाबी का राज है।"

—"मेरे भाई! पहले हम भी इसी क्रोध, अहंकार, मायाचार और लालच के गुलाम बनकर, तुम्हारी ही तरह दर-ब-दर भटकते फिरते थे। फिर हमें बेनियाजी और फक्कड़पने का ये रास्ता मिला। हम सब कुछ छोड़कर इस रास्ते पर चल निकले।"

—"अब हमें किसी के सलाम की ख्वाहिश नहीं रही। किसी से सलाम वसूलने के लिये हमें गुस्से या गुरूरका सहारा नहीं लेना पड़ता। अपनी ख्वाहिश के पीछे, दगाबाजी करके हमें किसी की जिन्दगी दाँव पर नहीं लगानी पड़ती। जैसे एक आजाद पंछी अपने आप को सारे आसमान का मालिक महसूस करता है, उसी तरह हमें सारा जहान अब अपना लगने लगा है।"

—"इस तरह वे चारों, क्रोध-मान-माया-लोभ, जो पहले हम पर काबिज रहते थे, अब हमारे गुलाम हो गये हैं। अब हम उनके वश में नहीं, वे हमारे वश में हैं। हमारी ताबेदारी करते हैं। और तुम? तुम तो अभी-अभी इकरार कर चुके हो कि तुम उन्हीं चारों की ताबेदारी में खुद परेशान हो और दुनिया को परेशान करते घूम रहे हो।"

—"अब तुम्हीं कहो भाई! क्या तुम्हें अपने गुलामों का गुलाम कह कर हमने कोई गलत-बयानी की है? क्या हमारे तुम्हारे बीच यह रिश्ता सौ-फीसदी सही नहीं है? क्या इसमें जरा सा भी झूठ है?"

—"अगर तुम्हें वाकई फतह हासिल करनी है सिकन्दर! तो पहले इन चार शैतानों की गुलामी से अपने आपको आजाद करो। वही तुम्हारी सबसे बड़ी कामयाबी होगी।"

—"दूसरों का मालिक बनने वाला बड़ा नहीं कहलाता। बड़ा तो वह होता है जो खुद अपना मालिक बन जाता है। खुद अपने आप पर काबिज हो जाता है।"—

इन्सान की बदबख्ती अंदाज से बाहर है,
कमबख्त खुदा होकर, बंदा नजर आता है ।

जैसे-जैसे संत बोलते जा रहे थे, वैसे ही वैसे सिकन्दर अपने भीतर एक नई रोशनी फैलती महसूस कर रहा था। विश्व-विजेता होकर भी सचमुच वह कितना गुलाम था। अपनी वासनाओं का, अपने अहंकार का और अपने लालच का। जैसे उसका सब कुछ उन्हीं के लिये बनकर रह गया था। खुद अपने ऊपर भी उसका कोई जोर, कोई अख्तियार रह नहीं गया था। उसके कान हमेशा खुद-बीनी और खुश-फहमी बढ़ाने वाली खुशामदी बातें सुनने के आदी थे। वह आज कुछ ऐसा सुन रहा था जैसा इसके पहले किसी ने उसे नहीं सुनाया था। उसका सर अपने आप झुक गया और बरजस्ता उसके मुंह से निकल पड़ा—

—"या खुदा, ये है इस मुल्क की असली तासीर।"

काल्पनिक मंजिल पाने की होड़ में बेतहाशा दौड़ता हुआ घोड़ा, कहीं एक क्षण भी ठहर कर आराम की साँस नहीं ले पाता, क्योंकि उसकी लगाम बेदर्द हाथों में होती है। उसकी पीठ पर लगातार हण्टर बरसते रहते हैं। नतीजा यह होता है कि मैदानी दौड़ पूरी होने के पहले ही उसकी जिन्दगी की दौड़ पूरी हो जाती है, और वह कहीं बीच में ही गिर कर दम तोड़ देता है।

सिकन्दर की हालत भी कुछ ऐसी ही हो रही थी। खल्क का मालिक बनने की हवश उसे दौड़ाये जा रही थी। उसकी लगाम लालच के बेदर्द हाथों में थी और उसकी पीठ पर गुरूर के, अहंकार के और ख्वाहिशों के कोड़े लगातार पड़ रहे थे। वह परिस्थितियों का दास बना भटक रहा था।

अपनी हालत पर पशेमान वह सर झुकाये हुए उठा और संत की कदमबोसी करके अपने डेरे की ओर वापस चल दिया। उस समय उसके बहादुर और मग़रूर सरदारों का भी मुंह लटका हुआ था।

सिकन्दर की इस दौड़ का जो नतीजा हुआ वह तारीख में कहीं

दर्ज है। अपने मुल्क पहुंचने के पहले ही रास्ते में मौत ने उसकी दौड़ खत्म करा दी थी।

महादुर्लभ : यह मनुष्य की देह—

चौरासी लाख योनियों में बार-बार जन्म-मरण करते हुए मनुष्य का शरीर पाने के लिये हमें विकास की अनेक सीढ़ियां पार करनी पड़ी हैं। पहले हम सिर्फ एक स्पर्शन-इन्द्रिय पाकर स्थावर जगत में पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल और वनस्पति आदि के रूप में रहे। फिर स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ प्राप्त कर रूनी, लट, गिंजाई आदि का शरीर हमें मिला। चींटी जैसी तुच्छ पर्यायों में घ्राण सहित तीन इन्द्रियाँ हमें प्राप्त हुईं। फिर मक्खी, ततैया, भँवरा आदि का जन्म चक्षु सहित चार इन्द्रियों के साथ हमने पाया।

इन अविकसित दशाओं में अपने हित और अहित का विचार करने तथा उस सीख को धारण करने की क्षमता हमें प्राप्त नहीं थी। तब मन ही हमारे पास नहीं था। फिर दैवयोग से पशुओं-पक्षियों के जन्म हमें मिले जहाँ कर्ण इन्द्रिय को मिलाकर पाँच इन्द्रियों के साथ, विकास के अगले चरण में हमें मन भी प्राप्त हो गया।

परन्तु हमारे वे सारे जन्म संक्लेश-पूर्ण, भूखा-प्यासा रहने में, बोझा ढोने में, पिंजरा, खूंटा, नकेल और लगाम की पराधीनताओं में ही बीतते रहे। खुद शिकार करने में या दूसरों का शिकार बन जाने में ही व्यतीत हो गये। बड़ी कठिनाई के बाद, बहुत पुण्य कमाने पर, हमें यह मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है। यहां स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र और कर्ण, इन पाँचों इन्द्रियों के साथ मन पर भी हमारा अधिकार हुआ है। आगामी जन्मों में दुर्गति से बचने के लिये, कुछ करने का विवेक और शक्तियां हमें प्राप्त हुई हैं। विचारने की बात यह है कि हमें इनसे अपने और पराये हित का कुछ काम लेना है या इन्हें यों ही खो देना है?

कषायों का कुफल—

एक संत कहा करते थे कि मन और इन्द्रियाँ तो मिली हैं परन्तु इन पर अधिकार हमें कहाँ प्राप्त हुआ है? उल्टे इन्हीं ने हम पर अधिकार कर लिया है। चार कषायों के वश में होकर हम अपने मन और इन्द्रियों का निरंतर दुरुपयोग करते रहे हैं, कर रहे हैं।

वास्तविकता तो यह है कि कषायों के आवेग के कारण हमारे लिये इन इन्द्रियों की सार्थकता ही खो गई है। उनका स्व-हित में कोई प्रयोग हम नहीं कर पा रहे हैं।

क्रोध ने हमारी आँखें छीन ली हैं। क्रोधी-व्यक्ति को कुछ सूझता नहीं।

मान ने, अहंकार ने हमें बहरा बना रखा है, अहंकारी व्यक्ति किसी की सुनता नहीं। मान के आवेग में हम बहरे हो जाते हैं।

मायाचार ने हमारी जिव्हा छीन ली। हमारी वाणी का अर्थ छीन लिया। मायाचारी व्यक्ति के तो पत्नी और पुत्र भी उसकी बात का विश्वास नहीं करते। इस तरह रसना इन्द्रिय व्यर्थ हो गईं।

लोभ-लालच ने हमारी नाक ही कटा दी है। लालची व्यक्ति का हाथ हर जगह, हर किसी के सामने, फैला ही रहता है। उसका कोई आत्म-सम्मान नहीं होता। वह तो हर जगह नाक रगड़ता रहता है। इस प्रकार हमारी घ्राण इन्द्रिय भी व्यर्थ हो गई।

हमारा मन, प्रायः हमारे संकल्प के बिना, अपनी मर्जी से, न जाने कहाँ-कहाँ भटकता फिरता है। एक क्षण भी स्थिर नहीं होता। उसकी चपलता हमारे लिये दुनिया भर के संकल्प-विकल्प, द्वन्द्व और संक्लेश अर्जित करती रहती है। इस तरह हमारा उस पर कोई अनुशासन नहीं है। उल्टे वही हम पर शासन कर रहा है।

विकलांग व्यक्तित्व–

विचार करने की बात है कि जब इस प्रकार चार कषायों ने हमारी चारों इन्द्रियों को निरर्थक कर दिया हो, पाप की वासनाओं ने हमारे मन को मलीन कर रखा हो, मन की लगाम हमारे हाथ में न हो, तब हमारी स्थिति क्या रही? चार इन्द्रियों से रहित किसी विकलांग व्यक्ति की कल्पना करें, क्या वह एक वृक्ष की तरह मात्र ठूंठ बनकर नहीं रह गया है? क्रोध-मान-माया-लोभ के कारण, क्या हम अपने उसी आदिम मुकाम पर खड़े नहीं हो गये हैं जहां से हमारी यात्रा बहुत समय पहले, लाखों-करोड़ों जन्मों के पहले प्रारम्भ हुई थी?

मिथ्यात्व, क्रोध-मान-माया और लोभ, मूलतः यही पाँच जीव में उत्पन्न होने वाले विकार हैं। पाप-रूप प्रारब्ध इनकी उत्पत्ति का अंतरंग कारण है। बाह्य में किसी भी जड़ या चेतन को हेय-उपादेय

अथवा प्रिय-अप्रिय मानना इन विकारों के विस्तार का हेतु बनता रहता है। संसार में कोई प्राणी एक क्षण के लिये भी इन विकारों से रहित नहीं पाया जाता। क्षुद्र योनियों से लगाकर मनुष्यों तथा देवताओं में भी सदैव, जागते या सोते, जाने या अनजाने, संकल्प-पूर्वक या संस्कारवश, राग-द्वेष-मोह की प्रवृत्ति होती ही रहती है। तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र, तथा मंद, मंदतर और मंदतम, ऐसे छह प्रकार के विकारी परिणाम यह जीव अनादि काल से अनवरत करता आ रहा है। अंतर सिर्फ डिग्री का है। कभी कम, कभी ज्यादा।

कैसे मिलती है दृष्टि—

द्वन्द्व का जाल तोड़कर वास्तविकताओं की ओर पग बढ़ाने के लिये साधक सर्वप्रथम भगवत्-भक्ति का सहारा लेकर अपने परिणामों में मंदता लाने का उपाय करता है। मंद परिणाम उसे "स्व" और "पर" को पृथक्-पृथक् पहचानने का अवसर देते हैं। उसे अपने ऐश्वर्य का, अपनी दिव्य सम्पदाओं का बोध होता है। अपने लिये हितकर और अहितकर का विवेक उसके भीतर उदित हो जाता है। यह "स्व-पर विवेक" ही वह दृष्टि है जिसके अभाव में वह अब तक अहित के मार्ग पर ही चलता रहा। विष को अमृत मानकर रुचि-पूर्वक पीता रहा। दृष्टि उसकी अपनी ही थी कहीं से आई नहीं। किसी ने दी नहीं। परन्तु अभी तक वह दृष्टि मिथ्या-आग्रहों के रोग के कारण संसार को उसके यथार्थ परिप्रेक्ष्य में नहीं देख पा रही थी। मिथ्यात्व का अवसान होते ही, अब उसे "सम्यंक्-दर्शन" प्राप्त हो गया। वास्तविकता का बोध कराने वाली दृष्टि मिल गई। मोह की निशा बीत गई। ज्ञान का सूर्योदय हो गया।

मोह-मुक्त होकर साधक अपने राग-द्वेष को जीतने का उपाय करता है। अपनी पाप-प्रवृत्तियों से छूटने का पुरुषार्थ प्रारम्भ करता है। इनके छोड़ने का भी एक क्रम है। ये विकार एक साथ समाप्त नहीं होते। पहले दिशा-परिवर्तन करके उन्हें धर्म के साधक कार्यों की ओर मोड़ना होता है। साधक धीरे-धीरे अपनी द्वेष-भावना पर विजय पाता जाता है और राग को शुभ कार्यों की ओर मोड़ता जाता है। ईश्वर-भक्ति, पूजा-अर्चना, परोपकार, दया-दान और आत्म-निग्रह के लिये किये गये व्रत, त्याग-तप आदि सब, अपने राग-भाव को शुभ

या विशुद्ध बनाने के उपाय हैं। यह विशुद्धि ही उसे आगे बढ़ने में सहायक होती है।

ऐसे शुभ-राग को "प्रशस्त-राग" भी कहा गया है। शायद इसलिये कि इसे प्राप्त कर लेने पर वीतरागता का मार्ग प्रशस्त होने लगता है। सम्पूर्ण वीतरागता साधना का अंतिम लक्ष्य है।

अनियंत्रित शक्तियाँ विनाश ही करती हैं—

धरती पर प्रति-वर्ष वर्षा के साथ ही सृजन का नूतन-क्रम प्रारम्भ होता है। एक बार पृथ्वी की प्यास बुझते ही चारों ओर हरियाली छा जाती है। बाँध बनाकर एकत्रित किया गया, और नहरों के कूल-किनारों में अनुशासित करके बहाया गया वह पानी रेगिस्तान को भी हरा-भरा कर देता है। परन्तु जब कभी वही पानी बाढ़ का प्रकोप बनकर, एकदम अनियंत्रित होकर, लक्ष्य-विहीन और दिशा-हीन प्रवाहित होने लगता है तब जल-प्रलय का दृश्य उपस्थित हो जाता है। चारों ओर विनाश ही विनाश दिखाई देने लगता है।

नियंत्रण के अभाव में सृजन-धर्मा जल प्रलय-धर्मा बन जाता है। जीवन के सारे आधार उसमें डूब कर विलीन हो जाते हैं। दूर-दूर तक ऐसी सड़ांध फैलती है कि साँस लेना दूभर हो जाता है। तब उस पानी की प्रकृति इतनी घातक हो जाती है कि फिर वह किसी की प्यास बुझाने के काम नहीं आता। उस पानी में घिरे हुए भी लोग प्यास से तड़पते और मरते रहते हैं।

जल का प्रवाह बड़ा शक्तिशाली होता है, परन्तु उसकी शक्ति का उपयोग सृजन में होगा या विनाश में, यह इस बात पर निर्भर है कि वह लक्ष्य-विहीन होकर अनियंत्रित ढंग से बहता है, या किसी लक्ष्य की ओर उसे नियंत्रित करके प्रवाहित किया गया है।

अनिवार्य है नियंत्रण—

हमारा जीवन भी एक शक्तिशाली प्रवाह की भाँति ही तो है। मन, वाणी, और शरीर हमारी प्रमुख शक्तियाँ हैं। जिस प्रकार मनुष्य अपने विवेक से जल, विद्युत, वायु आदि प्राकृतिक शक्तियों को नियंत्रित करके उनका उपयोग मानवता के हित में कर लेता है, उसी प्रकार हमारी आत्मा में ऐसी शक्ति है कि यदि हम विवेक-पूर्वक ठान

लें तो अपने मन, वाणी और शरीर तीनों शक्तियों को दिशा देकर नियंत्रित कर सकते हैं। उन्हें स्व-पर कल्याण के सृजनात्मक कार्यों में नियोजित कर सकते हैं।

हम अपने चारों ओर दृष्टि डालें तो यह सहज ही प्रमाणित हो जायेगा कि जो अपनी इन शक्तियों को पहचान कर उन्हें संयम के कूल-किनारों में नियंत्रित कर लेते हैं, अपने और दूसरों के हित को लक्ष्य बनाकर जो उन्हें कल्याण की दिशा में प्रवाहित करते हैं, वे समाज के लिये शुभ और मंगल के सृजन में सहायक होते हैं। मन, वचन और शरीर की शक्तियाँ, जहां भी अनुशासन-बद्ध प्रवर्तन करती हैं, वहां अपने आप सुख, समृद्धि और शान्ति की त्रिवेणी प्रवाहित होने लगती है। अनुशासित व्यक्तित्व में एक ऐसी चमक उत्पन्न हो जाती है जो दूसरों के लिये भी उत्कर्ष का मार्ग प्रकाशित करती है।

परन्तु अनुशासन के अभाव में व्यक्ति की शक्तियां समाज के लिये अभिशाप बनकर बिखरती हैं। मन-वाणी और शरीर के लक्ष्य-विहीन, अमर्यादित और असंयत प्रयोग, व्यक्ति के व्यक्तित्व को कुरूप तो बनाते ही हैं, वे समाज की सुख, समृद्धि और शान्ति को भी हानि पहुंचाते हैं। ऐसे लोगों के कारण सारा वातावरण दूषित हो जाता है। अभय के स्थान पर आतंक और स्वतंत्रता के स्थान पर स्वच्छंदता का बोलबाला हो जाता है। मानवता का अवमूल्यन होने लगता है। इसलिये व्यक्ति की शक्तियों का संयोजित प्रवर्तन आवश्यक है।

यह किसी के व्यक्तिगत हानि-लाभ का प्रश्न नहीं है। यह सारे समाज के कल्याण या अकल्याण से जुड़ा हुआ प्रश्न है। मानवता को लांछन से बचाने के लिये, और प्राणी मात्र को सह-अस्तित्व का आश्वासन देने के लिये, व्यक्ति की शक्तियों का नियंत्रण अनिवार्य है।

धर्म की उपयोगिता—

वाणी के द्वारा हम जो पाप करते हैं, या समाज-विरोधी प्रयोग करते हैं, उन पर हमारी संस्कृति, हमारी सभ्यता और हमारा समाज अंकुश लगा देता है। शरीर के माध्यम से तथा अन्य भौतिक साधनों की मदद से हम जो अनाचार करते हैं उन्हें रोकने के लिये कानून हैं, शासन है और उसकी पुलिस है। परन्तु, मन के द्वारा हम जो पाप करते हैं उसे रोकने वाली कोई शक्ति नहीं होती। मन पर अनुशासन सिर्फ धर्म या व्रत-संकल्प के द्वारा ही सम्भव है।

वास्तव में मन ही सबसे बड़ा पापी है। हम सामान्यतया जीव-हिंसा नहीं करते। परन्तु हमारा मन कितनी हिंसा करता रहता है? हम बैठे-बैठे कितनों का अहित-चिन्तन करते रहते हैं?

झूठ बोलने के अवसर भी हमारे जीवन में कम ही आते हैं। परन्तु हमारा मन, माया के वशीभूत होकर कितने-कितने मिथ्या संकल्प-विकल्प करता रहता है।

हम चोरी को निन्दनीय-कृत्य मानते हैं। उससे अपने आपको बचाते ही रहते हैं। परन्तु हमारा मन कहां-कहां चोरी करने पहुंच जाता है, हम किस-किस वस्तु पर ललचाते रहते हैं, क्या इसका कोई ठिकाना है? यह मन तो निरन्तर चोरी में ही संलग्न रहता है।

कुशील के विषय में तो कुछ नहीं कहना ही ठीक होगा। सामर्थ्य के अभाव में, या अवसर के अभाव में, शारीरिक-व्यभिचार भले ही न होते हों। परन्तु हमारे मन की दशा क्या है? वह कहां-कहां नहीं भटका है? किस-किस के साथ उसने वर्जित-सम्बन्ध नहीं बनाये हैं? क्या उन सम्बन्धों की कोई गणना की जा सकती है?

इसी प्रकार परिग्रह को लेकर भी, हम भटके हों या नहीं, हमारा मन कहां-कहां नहीं भटक चुका है? किस-किस पदार्थ को अपना मान कर हमने मन के लड्डू नहीं खाये हैं?

इस तरह वाणी और शरीर की अपेक्षा कई गुने पाप मन के आधार से हमारे जीवन में घटित हो रहे हैं। यहां तक कि जब हम सोते हैं, असहाय होकर अस्पताल के पलंग पर पड़े होते हैं, या मन्दिर में पूजा-आरती में लगे होते हैं, धार्मिक ग्रन्थों का पाठ कर रहे होते हैं, तब भी हमारा मन प्राय: निष्पाप नहीं हो पाता। वह तो किसी न किसी पाप में ही उलझा रहता है।

कबीर ने कहा— "भगतजी! माला आपके हाथ में सरक रही है। प्रभुनाम के उच्चारण के लिए आपकी जीभ मुंह में व्यायाम कर रही है, परन्तु आपका मन कहां है? वह तो बाजार में घूमता हुआ मिला था। भाई, यह भक्ति तो नहीं है।"—

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं,
मनुवाँ फिरत बजार में, यह तो सुमिरन नाहिं ।

किसी अन्य कवि ने कहा— "ईश्वर की आराधना करते-करते तू [illegible]ा से वृद्ध हो गया। तीर्थ-यात्रा करते-करते तेरे पैरों के पद-त्राण घिस

गये, परन्तु तेरी वासना तो जरा भी नहीं घिसी। यह कैसी पूजा है?"—

मन्दिर तीरथ भटकते, वृद्ध हो गया "छैल",
पग की पनहीं घिस गईं, घिसा न मन का मैल ।

इसीलिए संतों ने सबसे पहले मन को अनुशासित करने की बात कही है।

हमारे जीवन में राग-द्वेष के कारण इन पाँच पापों की अवतारणा होती है। वही हमारे दुखों का मूल कारण है। एक कवि ने हमारी बेचैनी की चर्चा करते हुए कहा— "संसारी जीव कभी चैन नहीं पाता। अपने मोह और राग-द्वेष के कारण भ्रमित होकर वह अनादिकाल से दुख उठा रहा है। वह हिंसा के कार्य करके अपने को सुखी समझता है। झूठ बोलकर स्वयं को चतुर मानता है। दूसरे के धन का हरण करने को अपनी शक्ति का प्रतीक मानता है और परिग्रह की वृद्धि में अपना बड़प्पन समझता है, जबकि यही पाप प्रवृत्तियां उसके संसार-भ्रमण का कारण बन रही हैं"—

देखो भाई महा विकल संसारी,
दुखित अनादि मोह के कारन, राग-द्वेष भ्रम भारी ।
हिंसारम्भ करत सुख समझै, मृषा बोलि चतुराई ।

यदि कभी उसके मन में इन पापों को छोड़ने की बात आती भी है तो वह मन से उनका त्याग नहीं कर पाता। "कभी तरह-तरह के आसन-प्राणायाम करके मान बैठता है कि मैंने कर्मों का मार्ग रुद्ध कर लिया है, परन्तु उसके ये प्रयास शरीर के स्तर तक ही सीमित रह जाते हैं। अपने अन्तर की मलिनताओं पर उसकी दृष्टि नहीं जाती। ज्ञान-ध्यान की बड़ी-बड़ी बातें करके अपने को संत-महंत समझने लगता है, परन्तु पापों की जड़ "ममता" उससे छूट नहीं पाती"—

— जोगासन करि कर्म निरोधै, आतम दृष्टि न जागै,
कथनी-कथत महंत कहावै, ममता मूल न त्यागै ।

—बनारसीदास.

मनुष्य की इसी पाप-प्रवृत्ति का चित्रण करते हुए भूधरदास जी ने कहा— "यह अज्ञानी अपने क्षणिक सुख के लिये बहुतेरे सूक्ष्म और स्थूल जीवों की हिंसा करता है। उसी अभिप्राय से असत्य का प्रयोग

करता है। पराई वस्तु की चोरी करता है और व्यभिचार के द्वारा अपने शील को लांक्षित करता रहता है। अपनी अनन्त-तृष्णा की प्यास बुझाने के लिये जीवन भर परिग्रह जोड़ता रहता है। परिग्रह बटोरने के भाँति-भाँति के उपायों को अपनी श्रेष्ठता का प्रमाण-पत्र समझता है। कहां तक कहा जाय, ऐसे अनेक अनर्थों में जीवन खो देता है और अगले भव में नरकों में दुख भोगता है"—

थिर जंगम जीव संघारै, इनके बस झूठ उचारै ।
पर चोरी सों चित लावै, पर तिय-संग सील गमावै ।
परिग्रह-तिसना विस्तारै, आरम्भ-उपाधि विचारै ।
इत्यादि अनर्थ अलेखे, करि घोर नरक दुख देखे ।
—पार्श्वपुराण/7/87-88

कबीर ने कहा— "बड़ा दुर्भाग्य है कि मन पाँच इन्द्रियों के वश में पड़ कर, पाँच पापों में भटक गया है। इन्द्रियां मन के वश में नहीं हैं इसलिए जिधर देखता हूं उधर ही पाप की ज्वालायें सुलग रही हैं। जिस ओर भागता हूं वहां केवल अतृप्ति की दाह ही झेलना पड़ती है। सुख और संतोष कहीं दिखाई नहीं देता"—

मन पाँचों के बस पड़ा, मन के बस नहिं पाँच,
जित देखूं तित दौं लगी, जित भागूं तित आँच ।

कबीर के मत से यह सम्भव ही नहीं है कि— "पाप कृत्य भी रुचिकर लगते रहें और धर्म की आराधना भी होती रहे। दो में से एक कुछ भी किया जा सकता है। एक साथ दोनों नहीं सध सकते"—

कबीर मन तौ एक है, भावै तहाँ लगाव,
भावै गुरु की भक्ति कर, भावै विषय गमाव ।

इसीलिए अपने आपको सम्बोधित करते हुए कबीर कहते हैं— "पाप के जिस भँवर में सब डूब रहे हैं, तुझे उससे बचना है। यदि समय रहते तू सावधान होकर यह पुरुषार्थ नहीं कर पाया तो जिस प्रकार आटे में नमक विलीन हो जाता है, उसी प्रकार संसार के भोगों में तेरी यह कंचन सी काया क्षीण होकर विलीन हो जायेगी"—

जिहि जिवरी से जग बँधा, तू मत बँधै कबीर,
जासी आटा-लोन ज्यों, सोन-समान शरीर ।

पाँच व्रत—

पाप-प्रवृत्तियों से बचने के संकल्प का नाम ही "व्रत" है। पाप को मोटे रूप से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच प्रकारों में बांटा गया है, अतः उसे त्यागने के संकल्प को भी पाँच प्रकार से कहा गया है। फलतः व्रत भी मुख्य रूप से पाँच ही बताये गये हैं।

हिंसा का त्याग करने के लिये "अहिंसा व्रत" ।
असत्य का त्याग करने के लिये "सत्य व्रत" ।
चोरी का त्याग करने के लिये "अचौर्य व्रत" ।
कुशील का त्याग करने के लिये "शील व्रत" । और—
परिग्रह-लिप्सा त्यागने के लिये "परिग्रह-परिमाण व्रत"— ।

साधना का अधिकारी कौन?

व्यक्ति का उत्कर्ष और समाज-कल्याण दोनों को, एक दूसरे का पूरक बनाकर चलाना धर्म का अभिप्राय है। जो धर्म प्राणी मात्र के कल्याण का आश्वासन देता है, वह मनुष्य और मनुष्य में भेद कैसे कर सकता है। धर्म तो पतित-पावन है। किसी भी जाति के स्त्री या पुरुष को, और बालक या वृद्ध को, उसे धारण करने का पूरा अधिकार है। मनु-स्मृति में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शुचिता और इन्द्रिय-निग्रह रूप धर्म समाज में चारों वर्ण के लिये साध्य कहा गया है—

अहिंसा-सत्यमस्तेयं शौचं इन्द्रिय-निग्रहः
एतत्सामासिकं धर्माः चातुर्वर्ण्ये ब्रवीत् मनुः।

— मनुस्मृति.

जैनाचार्यों ने इन पाँच व्रतों को "अणुव्रत" और "महाव्रत" के रूप में दो प्रकार से कहा है। घर में निवास करते गृहस्थ के लिये, परिवार, समाज, और राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालने करते हुए, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का जितना त्याग सहज सम्भव है, उसे "एक देश पाप-त्याग" कहा गया है। पापों के आंशिक त्याग के संकल्प "पंच-अणुव्रत" हैं। जाति-पाँति के भेद बिना सभी मनुष्य अणुव्रत धारण करने के अधिकारी हैं।

पापों का पूरी तरह त्याग करना गृहस्थ आश्रम में साध्य नहीं है। वह गृह-त्याग करके साधु-अवस्था में ही सम्भव होता है। मुनियों के नव-कोटि पूर्वक, ऐसे पाँच पापों के सर्वथा त्याग को "पंच-महाव्रत" कहा गया है। नव-कोटि की परिभाषा इस प्रकार है–

मन-वचन-काय से–

मैं मन में पापों का विचार नहीं करूंगा ।
मैं वाणी से इन पापों की चर्चा नहीं करूंगा ।
मैं शरीर से कोई पाप-कृत्य नहीं करूंगा ।

कृत-कारित-अनुमोदना से–

मैं मन, वचन, काय से ये पाप स्वयं नहीं करूंगा ।
मैं किसी दूसरे को इन पापों की प्रेरणा नहीं दूंगा ।
मैं दूसरों के द्वारा किये गये पाप कार्यों की अनुमोदना नहीं करूंगा ।

समरम्भ-समारम्भ-आरम्भ से–

मैं इन पाप-कृत्यों के लिये संकल्प और संयोजना नहीं करूंगा ।
मैं इन पाप-कार्यों के साधन एकत्र नहीं करूंगा ।
मैं इन पाप-कार्यों के प्रयत्न नहीं करूंगा ।

ये पाँच-पाप ही वे पाँच-ग्राम हैं जिनके त्याग का आश्वासन अपने प्रभु को देकर हम अपने निजी कुरुक्षेत्र में आशंकित महाभारत को टाल सकते हैं। यही पाँच अणु-व्रत हमें ईश्वर का पक्षधर बना सकते हैं। इन्हीं व्रतों के माध्यम से जीवन और धर्म की वह संधि सम्भव हो सकती है जो हमारे मनुष्य जन्म को सार्थक कर दें तथा हमारी अगली यात्रा को दुर्गतियों की ओर से मोड़कर ईश्वर-सान्निध्य देने वाली, तथा आत्म-कल्याण की अनुकूलता देने वाली दिशाओं में संचालित कर दे।

क्या मिलेगा इनके त्याग से–

इन पाँच शर्तों के स्वीकार करने मात्र से हम अपने आपको उस महा-विनाश से बचा सकते हैं, जिसकी आशंका प्रतिपल हमें आतंकित कर रही है।

इन पाँच मानसिक विकारों का परित्याग कर देने पर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शील और अपरिग्रह, इन पाँच उपलब्धियों से हमारा जीवन संस्कारित होना प्रारम्भ हो जायेगा। धर्म की यदि संक्षिप्त

व्याख्या करना हो तो वह इतनी ही होगी। संसार के सारे ही धर्म मनुष्य से केवल इन्हीं बुनियादी बातों की स्वीकृति चाहते हैं।

1. अहिंसा के आने का अर्थ है कि हिंसा हमारे जीवन से निकल जाये। हम किसी के तन या मन को पीड़ा पहुंचाने वाला आचरण नहीं करें। न मन से, न वचन से और न काय से।
2. सत्य के आने का अर्थ है हमारे नित-प्रति के व्यवहार में परहित की भावना प्रतिष्ठित हो। यही असत्य के त्याग का अभिप्राय है। निश्छल-व्यवहार उसका फल है।
3. चोरी के त्याग या "अस्तेय" की प्राप्ति होने पर अनीति के सहारे, अवैध तौर-तरीकों से किसी वस्तु की कामना, या उसे प्राप्त करने का संकल्प फिर हमारी चेतना में उत्पन्न नहीं होगा।
4. कुशील को विदा करके हम पारस्परिक सौजन्य और मर्यादाओं के साथ अपने पारिवारिक तथा सामाजिक दायित्वों का निर्वाह कर सकेंगे। यही शील की प्राप्ति है।
5. परिग्रह लिप्सा कम हो तो अपरिग्रह के लिये हमारे मन में अवकाश हो। हम अपनी आकाँक्षाओं की सीमा निर्धारित कर सकें और आवश्यकता से अधिक, अपरिमित वस्तुओं के प्रति हमारे मन में लालच या व्यामोह न रहे। अपरिग्रह की यही परिभाषा है।

असीमित वस्तुओं को अपने लिये प्राप्त करने की अनन्त अभिलाषायें जो निरंतर हमारे मन में उत्पन्न होती रहती हैं, वे हीं हमें हिंसा करने के लिये, झूठ का सहारा लेने के लिये, चोरी का पाप करने के लिये और शील-संकोच की उपेक्षा करने के लिये प्रेरित करती हैं।

अभिलाषाओं की यह दौड़ हमें भटकाती बहुत है, पर पहुंचाती कहीं नहीं। यह ऐसी विचित्र दौड़ है जिसकी मंजिल तक कभी कोई नहीं पहुंच पाता। वह मंजिल सदा आगे ही बढ़ती जाती है। तृष्णा कीं तृषा कभी बुझती नहीं।

इतना कर सकें तो इसी जीवन में असीमित आकाँक्षाओं और अदम्य कामनाओं का वह महाभारत हम टाल सकते हैं जिसकी भूमिका हमारे भीतर ही भीतर, हमारे अपने कुरुक्षेत्र में तैयार हो रही है। जो यदि टाला न जा सका तो इस मानव-जीवन का सूर्यास्त होते ही हमें दुर्गतियों की गहरी और भयावनी रात्रि का सामना करना पड़ेगा, जिसका अवसान फिर आसान नहीं होगा। फिर कहा नहीं जा सकता कब, कितने जन्मों में, कहाँ-कहाँ, कितनी यातनाएँ भोगने के बाद, मनुष्य पर्याय का सूर्योदय हमारे जीवन में हो सकेगा।

अहिंसा और अपरिग्रह

अहिंसा मानसिक पवित्रता का नाम है। उसके व्यापक क्षेत्र में सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि सभी सद्गुण समा जाते हैं। इसीलिए अहिंसा को "परम-धर्म" कहा गया है। संसार में जल-थल और आकाश सर्वत्र सूक्ष्म-जीव भरे हुये हैं, इसलिए बाह्य आचरण में पूर्ण अहिंसक होकर रहना सम्भव नहीं है। परन्तु यदि अन्तरंग में समता हो और बाहर की प्रवृत्तियाँ प्रमाद-रहित, यत्नाचार पूर्वक नियंत्रित कर ली जायें, तो बाह्य में सूक्ष्म जीवों का घात होते हुए भी, साधक अपनी आन्तरिक पवित्रता के बल पर अहिसंक बना रह सकता है।

अहिंसा का क्षेत्र इतना संकुचित नहीं है जितना लोक में समझा जाता है। अहिंसा का आचरण भीतर और बाहर दोनों ओर होता है। अन्तरंग में चित्त का स्थिर रहना अहिंसा है। जीव का अपने साम्य-भाव में संलग्न रहना अहिंसा है। क्रोध-मान-माया-लोभ से रहित पवित्र विचार और संकल्प ही अहिंसा है। अंतरंग में ऐसी आंशिक साम्यता लाये बिना अहिंसा की कल्पना नहीं की जा सकती।

अहिंसा केवल एक व्रत नहीं है। अहिंसा एक विचार, एक समग्र-चिन्तन है। अहिंसा किसी मन्दिर में, या किसी तीर्थ पर जाकर सुबह-शाम सम्पन्न किया जाने वाला कोई अनुष्ठान नहीं है। वह आठों-याम चरितार्थ किया जाने वाला एक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन है। वह संसार के सभी धर्मों का मूल है।

मानवता की परिभाषा यदि एक ही शब्द में करने की आवश्यकता पड़े तो "अहिंसा" के अतिरिक्त कोई दूसरा शब्द है ही नहीं जो उस गरिमा का वहन कर सके।

अहिंसा पर प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि वह एक नकारात्मक विचार है और गृहस्थ जीवन में व्यवहार्य नहीं है। परन्तु अहिंसा पर जो अध्ययन हुआ है, और समाज में अहिंसक जीवन के जो थोड़े से उदाहरण सामने आए हैं, उनके आधार पर ये दोनों आरोप

निराधार सिद्ध होते हैं।

यदि हम संतों और मुनियों-आचार्यों की बात छोड़ भी दें, तो भी अनेक उदाहरण हमारे सामने हैं। महात्मा गांधी ने अहिंसा के सकारात्मक प्रयोग करके, रक्त-विहीन क्रान्ति के सहारे, अपने देश को स्वाधीन कराने का अनोखा काम, अभी हमारे सामने ही सम्पन्न किया है। इसी प्रकार अनेक महापुरुषों ने हिंसा-रहित जीवन जी कर यह भी चरितार्थ कर दिया है कि अहिंसा अव्यवहारिक नहीं है। वह पूर्णतः व्यावहारिक जीवन-पद्धति है। वह एक निष्पाप, निराकुल, संतुष्ट और अखण्ड जीवन जीने की कला है। अहिंसा में इतनी सामर्थ्य है कि वह विकार से दहकते हुये चित्त में समता और शान्ति के फूल खिला सकती है।

अहिंसा निर्मल चेतना से अनुशासित, विधायक और व्यवहार्य जीवन-विधान है। वह मनुष्य की सबसे बड़ी पूंजी है। मनुजता की धुरी है। जैनाचार्यों ने अहिंसा को परम-धर्म को हिंसा को सबसे बड़ा पाप माना है। उन्होंने स्थापित किया है कि झूठ-चोरी-कुशील और परिग्रह आदि सभी पाप हिंसा के ही रूप हैं। इसीलिए उन्होंने अहिंसा को साध्य तथा सत्य-अचौर्य-ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि शेष व्रतों को उसका साधक माना है। उन्होंने आन्तरिक अहिंसा को "निश्चय-अहिंसा" और बाह्य आचरण में पलने वाली अहिंसा को "व्यवहार-अहिंसा" कहा है।

इस प्रकार जैन सिद्धान्त के अनुसार जीव के अपने अविकारी भाव अहिंसा हैं और विकारी भाव ही हिंसा हैं। दूसरे शब्दों में जो प्रमाद से अभिभूत है वह हिंसक और जो अप्रमत्त है उसे अहिंसक कहा गया है।

अहिंसा मानव-मन का स्थायी भाव है। राजनीति के कुचक्र में क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिये, कहीं धर्म के नाम पर, कहीं भाषा और वेष के नाम पर, बार-बार हिंसा को उकसाया जाता है। संतों-महात्माओं के द्वारा जगायी गई अहिंसा की ज्योति को बुझाने का प्रयास किया जाता है। परन्तु वह ज्योति केवल काँप कर रह जाती है। कभी बुझती नहीं।

अहिंसा अनन्त काल तक मानव मन को प्रकाशित करती रहेगी। वह उधार के तेल से जलाया गया दीपक नहीं है जो घड़ी भर में बुझ जाये। अहिंसा तो एक आंतरिक प्रकाश है। वह मानवता की सहज-स्वाभाविक और शास्वत ज्योति है। उसे कभी बुझाया नहीं जा सकेगा। भावनाओं को भड़का कर इन्सान को कुछ समय के लिये

शैतान बनाया जा सकता है, पर उसे हमेशा शैतान रखा नहीं जा सकता।

हिंसा पर अहिंसा की विजय का यही सबसे बड़ा प्रमाण है।

जैन आगम में अहिंसा–

अहिंसा जैन धर्म का प्राण है। इसलिए जैन आगम में अहिंसा की प्रेरणा के लिए और हिंसा के निषेध के लिये, बहुत लिखा गया है। लगभग एक हजार वर्ष पूर्व अमृतचन्द्रस्वामी प्रसिद्ध दिगम्बर आचार्य हुए हैं। उन्होंने अनेक शास्त्रों की रचना की। हिंसा और अहिंसा की परिभाषा के लिये उन्होंने एक स्वतन्त्र-ग्रन्थ लिखा। अहिंसा के मार्ग से चारों पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं, ऐसा विश्वास करके उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम रखा– "पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय"।

अमृतचन्द्रस्वामी ने इस ग्रन्थ में हिंसा और अहिंसा का इतना सूक्ष्म विश्लेषण किया है कि बाद के आचार्यों ने उनके विषय में यह स्वीकार किया कि– "हिंसा-अहिंसा के विषय में आगम में जहां भी, जो कुछ भी उपलब्ध है, वह बीज रूप से "पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय" में अवश्य है। जो इस ग्रन्थ में नहीं है वह अन्यत्र कहीं नहीं है।"

उनकी विवेचना के कुछ सूत्र हम यहां प्रस्तुत करेंगे।

निज की भी होती है हिंसा–

चित्त में क्रोध-मान-माया-लोभ आदि कषायों की उत्पत्ति ही हिंसा है। चित्त की निष्कषाय, निर्मल परिणति ही अहिंसा है। जीव जब राग-द्वेष-मोह रूप परिणामों से प्रेरित नहीं है, तब प्राणों का व्यपरोपण हो जाने पर भी वह अहिंसक है। और जब राग आदि कषायों से युक्त है तब किसी के प्राणों का विघात न होने पर भी वह हिंसक है।

हिंसा के सन्दर्भ में प्रायः यह समझा जाता है कि दूसरों को पीड़ा पहुंचाना हिंसा है। कोई व्यक्ति क्रोधित होकर किसी को मारता है तब निश्चित ही पिटने वाले व्यक्ति को शारीरिक और मानसिक पीड़ा होती है। इसी पीड़ा को प्रायः हिंसा की सीमा समझ लिया जाता है। परन्तु पीटने वाले व्यक्ति की मानसिक या शारीरिक पीड़ा को, या उसके प्राणों के विघात को अनदेखा कर दिया जाता है। परन्तु यह सम्पूर्ण सत्य नहीं है। यह तो अधूरा सत्य है।

व्यक्ति जब क्रोधित होता है और दूसरे को मारता-पीटता है तब उसके अपने भी तन और मन दोनों विकृत हो जाते हैं। उसका चित्त अशान्त हो जाता है। वह अपने भीतर एक तनाव महसूस करता है। इसके बाद ही वह दूसरे के साथ मार-पीट करता है। जैन व्याख्या के अनुसार हिंसा के पूर्व, हिंसक के तन और मन की विकृति भी हिंसा है। वह उसके अपने प्राणों का व्यपरोपण है और पहले वही हिंसा घटित होती है। इस तरह हिंसक व्यक्ति, बाहर की हिंसा के पूर्व, मन में हिंसा की भावना आते ही अपनी स्व की हिंसा का अपराधी हो जाता है और उसके दण्ड स्वरूप पाप-बन्ध कर लेता है।

अहिंसा की मान्यता

अहिंसा को प्रायः सभी विचारकों ने "परम-धर्म" कहा है। तुलसीदास जी ने श्रुतियों और संहिताओं की साक्षी-पूर्वक यह बात कही कि—

परम धरम श्रुति बिदित अहिंसा,
पर निन्दा सम अघ न गरीसा ।

—रामचरित मानस/उत्तरकाण्ड/120-ख

किन्तु मानस में ही उन्होंने सत्य को भी परम-धरम कह दिया—

धरमु न दूसर सत्य समाना,
आगम निगम पुरान बखाना ।

—अयोध्याकाण्ड/94

आगे चलकर गोस्वामीजी ने परम-धरम की एक और परिभाषा कर दी। उन्होंने परोपकार को भी परम-धरम कह दिया—

परहित सरिस धरम नहिं भाई,
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ।

—उत्तरकांण्ड/40

यदि इन तीनों पंक्तियों को एक साथ पढ़ा जाये तो मन में एक उलझन पैदा होती है। एक प्रश्न उठता है कि परम-धरम तो एक ही होना चाहिए, वह तीन प्रकार का कैसे हो सकता? हर कहीं मुख्य या

प्रधान, एक ही होता है। दो तो परम हो ही नहीं सकते। यह प्रश्न बहुत दिन तक मन में अनुत्तरित पड़ा रहा। एक दिन मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री शिवदयाल जी के सामने, चर्चा-वार्ता में प्रसंग पाकर मैंने यह प्रश्न रखा। उन्होंने सुगमता पूर्वक इसका समाधान कर दिया। उनका चिन्तन था–

–"हमारे पास कुछ करने के लिए मन, वाणी और शरीर, ये तीन ही साधन हैं। धर्म तो वही हो सकता है जो इन तीनों में बस जाये, इन तीनों को पवित्र करे। वास्तव में परम-धर्म तो एक ही है, और वह है "अहिंसा"। अहिंसा अपने आप में एक परिपूर्ण जीवन-दर्शन है। मन का सारा सोच विचार, और मन के सारे संकल्प, अहिंसा पर आधारित होने चाहिए और अहिंसामय होने चाहिए। अतः चिन्तन के स्तर पर अहिंसा ही परम धर्म है। हमारे कृत्य भर नहीं, हमारे भाव भी अहिंसामय हों, यह अहिंसा की अनिवार्य शर्त है।"

–"मन की वह अहिंसा जब वाणी में उरती है तब सत्य को परम-धर्म की संज्ञा मिलती है। इसी प्रकार शरीर तथा साधनों के माध्यम से जब अहिंसा की साधना की जाती है तब परोपकार या पर-हित को ही परम-धर्म कहना होगा। परन्तु वाणी और शरीर के ये दानों परम-धर्म मिलकर अहिंसा को ही श्रेय देंगे। उसी की प्रतिष्ठा करेंगे।"

संसार के सभी जीव दुखों से बचना चाहते हैं और सुखों की कामना करते हैं। दुखी होना कोई नहीं चाहता। हिंसा ऐसा पाप है जो मरने वाले और मारने वाले दोनों के लिये दुखद है, दुख का मूल है। इसीलिए स्वभावतः हम सभी हिंसा से बचना चाहते हैं। अहिंसा सभी के लिये सुखद है, अतः सब जीव स्वभावतः अहिंसक वातावरण में रहना चाहते हैं।

महाभारत में अहिंसा का उपदेश पग-पग पर मिलता है। शान्तिपर्व में एक जगह कहा गया है कि– "अध्ययन, यज्ञ, तप, सत्य, इन्द्रिय-संयम एवं अहिंसा-धर्म का पालन जिस क्षेत्र में होता हो, वहीं व्यक्ति को निवास करना चाहिये"–

यत्र वेदाश्च यज्ञाश्च तपः सत्यं दमस्तथा।
अहिंसाधर्मसंयुक्ताः प्रचरेयुः सुरोत्तमाः,
स वो देशः सेवितव्यो मा वो धर्मः पदास्पृश्यते ।

–महाभारत/शान्तिपर्व/340/-88-89

अहिंसा को महाभारत में नैतिक तथा धार्मिक दोनों दृष्टियों से सर्वोच्च प्रतिष्ठा दी गई है–

–"अहिंसा परम धर्म है। अहिंसा ही परम तप है। अहिंसा ही परम सत्य है और अहिंसा ही धर्म का प्रवर्तन कराने वाली है। यही संयम है,यही दान है, परम ज्ञान है और यही दान का फल है। जीव के लिये अहिंसा से बढ़कर हितकारी, मित्र और सुख देने वाला दूसरा कोई नहीं है"–

अहिंसा परमो धर्मः, अहिंसा परमो तपः ।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते।।

अहिंसा परमो धर्मः, अहिंसा परमो दमः ।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः।।

अहिंसा परमो यज्ञः अहिंसा परमो फलम् ।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्।।

–महाभारत/अनुशासन पर्व/115-23/116-28-29

अनुशासनपर्व में ही कहा गया– "देवताओं और अतिथियों की सेवा, धर्म की सतत् आराधना, वेदों का अध्ययन, यज्ञ-तप-दान, गुरु और आचार्य की सेवा तथा तीर्थों की यात्रा, ये सब मिलाकर अहिंसा की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं हैं। अहिंसा इन सबसे श्रेष्ठ है।"–

देवतातिथि-सुश्रूषा सततं धर्मशीलता ।
वेदाध्ययन-यज्ञाश्च तपो दानं दमस्तथा।।

आचार्य-गुरु-सुश्रूषा-तीर्थाभिगमनं तथा ।
अहिंसाया वरारोहे कलां नार्हन्ति षोडशीम्।।

–महाभारत/अनुशासनपर्व/145

पुराणों में अहिंसा को सर्व धर्मों में श्रेष्ठ धर्म बताते हुए कहा गया– "चार वेदों के अध्ययन से, या सत्य बोलने से, जितना पुण्य प्राप्त होता है, उससे कहीं अधिक पुण्य-प्राप्ति अहिंसा के पालन से होती है।"–

चतुर्वेदेषु यत् पुण्यं यत् पुण्यं सत्यवादिषु ।
अहिंसायान्तु यो धर्मो गमनादेव तत् फलम्।।

–मत्स्य-पुराण/105-48

नारद-पुराण में भी अहिंसा की महिमा गाई गई है– "हे राजन्! वह अहिंसा सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाली तथा पापों से छुड़ाने वाली है।"–

अहिंसा सा नृप प्रोक्ता सर्वकामप्रदायिनी ।
कर्म-कार्य-सहायत्वमकार्यं परिपन्थता।।

–नारद पुराण/ 16-22

ब्रह्म पुराण में देवी पार्वती द्वारा यह पूछने पर कि मुक्ति के पात्र कौन होते हैं, शिव ने उत्तर में कहा– "मन, वचन, और काया से जो पूरी तरह अहिंसक रहते हैं, और जो शत्रु और मित्र दोनों को समान दृष्टि से देखते हैं, वे कर्म-बन्धन से छूट जाते हैं। सभी जीवों पर दया करने वाले, सभी जीवों में आत्मा का दर्शन करने वाले, और मन से भी किसी जीव की हिंसा न करने वाले स्वर्गों के सुख भोगते हैं"–

कर्मणा-मनसा-वाचा ये न हिंसन्ति किंचन ।
तुल्यद्वेष्य-प्रियादान्ता मुच्यन्ते कर्मबन्धनैः।।

सर्वभूतदयावन्तो विश्वास्था सर्वजन्तुषु ।
त्यक्तहिंस-समाचारास्ते नराः स्वर्गागमिनः।।

–ब्रह्म-पुराण/224/8-9

शान्तिपर्व में अन्तिम निष्कर्ष निकालते हुए हिंसा को सबसे बड़े अधर्म और अहिंसा को सबसे बड़े धर्म के रूप में रेखांकित किया गया है। उसी प्रसंग में यह भी लिखा गया है कि– "जीवों के लिये अहिंसा से बड़ा कोई धर्म नहीं है, क्योंकि इसके द्वारा प्राणियों की रक्षा होती है और किसी को भी कोई कष्ट नहीं होता।"–

अहिंसा सकला धर्मो हिंसाधर्मस्तथाहितः ।
न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन ।
यस्मान्नोद्विजते भूतं जातु किंचित् कंथचन।।

महाभारत/शान्तिपूर्व/272-20/262-30

जैन मुनि के आचरण में दोनों प्रकार की हिंसा का त्याग अनिवार्य बताया गया है। राग-द्वेष के सम्पूर्ण अभाव में ही पूर्ण अहिंसा का पालन सम्भव होता है।

दौलतराम जी ने मुनियों की जीवन पद्धति दर्शाते हुए कहा— "सूक्ष्म एक-इन्द्रिय से लगाकर सज्ञी-पंच इन्द्रिय तक छहों प्रकार के जीवों की हिंसा का त्याग होने से मुनिजन द्रव्य-हिंसा से विरत रहते हैं, और राग-द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारी भावों से रहित होने के कारण वे भाव-हिंसा से विरत हैं। इस प्रकार वही सच्चे और परिपूर्ण अहिंसक होते हैं।—

षटकाय जीव न हनन तैं
सब विधि दरब-हिंसा टरी,
रागादि भाव निवारतैं
हिंसा न भावित अवतरी ।

—छहढाला/6-1

द्वादस-अनुप्रेक्षा और दसलक्षण-धर्म—

इस प्रसंग में जैन-उपासना में द्वादस-अनुप्रेक्षा और दसलक्षण धर्मों पर विशेष जोर दिया गया है। अनित्व-अशरण-संसार आदि अनुप्रेक्षाओं के द्वारा संसार की क्षण-भंगुरता का चिन्तन किया गया है। एकत्व और अन्यत्व भावना में जीव की असहाय, एकाकी, निराश्रय स्थिति पर विचार किया गया है। अशुचि और आस्रव भावना में देह की दशा पर विचार करते हुए कर्मों के आने और आत्मा के साथ बँधने के कारण तलाशे गये हैं। संवर और निर्जरा अनुप्रेक्षाएं चिन्तक को मुक्ति के उपाय बताती हैं। लोक-भावना भूत-भविष्य और वर्तमान के संदर्भों में उसे उसकी वास्तविकता से परिचित कराती है। बोधि-दुर्लभ-भावना में यथार्थ-ज्ञान की दुर्लभता का विचार है, तथा अंत में धर्म-भावना के द्वारा जीव को उसके निज-धर्म की ओर प्रेरित किया जाता है।

इसी प्रकार दसलक्षण-धर्म में क्षमा-मार्दव-ऋजुता और शुचिता आदि के द्वारा साधक को क्रोध-मान-माया-लोभ के त्याग से लेकर आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य के माध्यम से ब्रह्म में लीन हो जाने तक का यात्रा-पथ प्रदर्शित किया गया है। ध्यान देने की बात यह है कि बारह-भावनाओं में और दसलक्षण धर्मों में कहीं अहिंसा का नाम नहीं है। अहिंसा इन सबसे ऊपर, इन सबका अंतिम लक्ष्य मानी गई है। अहिंसा को साधन नहीं, साध्य माना गया है। अहिंसा की चरम और

परम स्थिति प्राप्त करने के ही ये सब उपाय हैं। अहिंसा से बड़ा कोई धर्म है ही नहीं।

जैनाचार पद्धति में गृह-निवास करने वाले गृहस्थों और गृह-त्याग कर तपस्या करने वाले मुनियों के लिये धर्म के दो भेद किये हैं। गृहस्थों के लिये "सागार-धर्म", और मुनियों के लिये 'अनगार-धर्म"। इसी आधार पर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शील और अपरिग्रह, इन पांच व्रतों को भी दो प्रकार से कहा गया है। पांच पापों का आंशिक त्याग, जो गृहस्थों के लिये साध्य है, उसे "पंच-अणुव्रत" रूप में निर्देशित किया गया और इन्हीं पांच पापों का सम्पूर्ण त्याग, जो केवल मुनियों के द्वारा साध्य है, पांच-महाव्रतों के नाम से कहा गया।

भाव-हिंसा और द्रव्य-हिंसा–

हिंसा मन-वाणी और शरीर तीनों के माध्यम से होती है। परन्तु जब हिंसा की बात आती है तब प्रायः वाणी और शरीर के माध्यम से होने वाली हिंसा को रोकने पर जोर दिया जाता है। मन के माध्यम से होने वाली हिंसा को रोकना अनावश्यक या असम्भव मानकर, उसकी चर्चा छोड़ दी जाती है।

जैनाचार्यों ने मन के माध्यम से होने वाले पापों को रोकने पर अपेक्षाकृत अधिक जोर दिया है। उनकी मान्यता है कि मन के पाप रोके बिना वचन और तन के पाप नहीं रोके जा सकते। उन्होंने यह भी माना है कि जीव को अपनी करनी से जो कर्म बन्ध होता है उसमें फल देने वाली शक्तियां उसके मानसिक व्यापार के आधार पर ही उत्पन्न होती हैं।

इस चिन्तन के आधार पर जैन संतों ने हिंसा को "भाव-हिंसा" और "द्रव्य-हिंसा" के रूप में दो प्रकार से कहा है। प्राणियों को पीड़ा पहुंचाने का, या उनके घात का विचार करना "भाव-हिंसा" है। प्राणियों को पीड़ा पहुंचाने वाली और उनका घात करने वाली क्रिया "द्रव्य-हिंसा" है।

मूल में भाव-हिंसा अनिवार्य रूप से मौजूद रहती है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जहां भाव-हिंसा हो वहां उसके फल-स्वरूप द्रव्य-हिंसा हो ही जाय। इसका कारण यह है कि किसी का विघात केवल हमारे सोचने से, या हमारे कुछ करने मात्र से नहीं हो जाता।

जीव का विघात होने में उसका अपना प्रारब्ध तथा अन्य अनेक बाहरी कारण भी महत्व रखते हैं।

यह निश्चित है कि किसी का विघात हो या न हो, हिंसा के परिणाम करने वाले जीव को उस विघात का पाप लगता है। उसका फल भी उसे भोगना पड़ता है। इस प्रकार हमारे कर्म-बन्ध में द्रव्य-हिंसा से अधिक भाव-हिंसा का महत्व है।

इससे एक तथ्य यह भी प्रगट होता है कि अपने मन की मलिनता के कारण हम ऐसे अनगिनते पापों का फल भोगते हैं जो हमने कभी किये ही नहीं होते। केवल चित्त की चंचलता के कारण, और राग-द्वेष की तीव्रता के कारण, तरह-तरह के कुत्सित विचार हमारे मन में उठते रहते हैं। उनके दुखद परिणाम भोगने के लिये हम मजबूर हैं।

भाव-हिंसा और द्रव्य-हिंसा की तरह सभी पाप-वृत्तियों को मानसिक स्तर पर और भौतिक या स्थूलता के स्तर पर, दो प्रकार से समझा जाना चाहिये। झूठ भी "भाव-झूठ" और "द्रव्य-झूठ" के प्रकार से दो तरह का है। चोरी और कुशील भी इसी तरह दो-दो प्रकार के हैं। इसी प्रकार परिग्रह को भी मानसिक और भौतिक स्तर पर बांटकर समझना होगा।

लौकिक न्याय-पद्धतियों में भी भाव-हिंसा को द्रव्य-हिंसा से अधिक महत्व दिया जाता है। विश्व की सारी न्याय-व्यवस्था इसी आधार पर अवलम्बित है।

किसे कितनी सजा—

हमारे नगर में एक दिन तीन घटनायें घट जाती हैं। तीनों में एक-एक व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। एक व्यक्ति को लूटने के लिए कोई डाकू उसके सीने में छुरी भोंक देता है। दूसरी जगह किसी वाहन दुर्घटना में एक व्यक्ति कुचल कर मर जाता है। तीसरी घटना में एक मरीज ऑपरेशन की टेबिल पर शान्त हो जाता है।

तीनों घटनाओं में एक-एक व्यक्ति के निमित्त के एक-एक व्यक्ति का जीवन समाप्त हो जाता है। इस प्रकार स्थूल दृष्टि से तीनों घटनाओं का प्रतिफल एक होते हुए भी तीनों व्यक्तियों की मानसिकता में बहुत अन्तर है। उनके अभिप्राय एकदम अलग-अलग हैं। इसीलिए पुलिस की डायरी में, और न्यायालय के फैसले में, डाकू, ड्राइवर और

डॉक्टर, इन तीनों के लिये जुदी-जुदी व्यवस्था होगी। उनका अपराध घटना के प्रतिफल से नहीं, उनके मानसिक संकल्पों से तौला जायेगा।

डाकू को व्यक्ति की हत्या का दोषी ठहराया जायेगा और मृत्यु दण्ड जैसा कठोर दण्ड दिया जायेगा। उसके द्वारा आहत व्यक्ति यदि एक बार बच भी जाये तब भी डाकू को हत्या के प्रयास के लिये दण्डित किया जायेगा।

ड्राइवर को हत्या का दोषी नहीं ठहराया जा सकता। उसे घटना के तथ्यों के अनुरूप या तो अयोग्य वाहन चलाने, अथवा असावधानी से वाहन चलाने का दोषी मानकर हल्का दण्ड दिया जायेगा।

परन्तु डॉक्टर को, अन्तिम साँस तक रोगी को बचाने के उपाय करने के लिये सराहा जायेगा। पुलिस और कानून तो उससे कुछ बोलेंगे ही नहीं, रोगी के सम्बन्धी भी उसका उपकार ही मानेंगे कि– "आपने तो अन्त-अन्त तक प्रयत्न किया, परन्तु उनकी आयु समाप्त हो गई थी, या हमारा भाग्य ही ऐसा था।"

लोक-परलोक की व्यवस्था, कर्म-बन्ध और कर्म-फल का गणित भी लौकिक कानून के अनुरूप, पूरी तरह ऐसे ही प्राकृतिक न्याय पर आधारित है। भौतिक-हिंसा का स्वरूप चाहे जैसा हो, उसमें संलग्न सभी लोगों को अपनी-अपनी भाव-हिंसा के अनुसार कर्म-बन्ध होता है। इसीलिए तो कभी-कभी दूर बैठा हुआ व्यक्ति उस पाप का भागीदार होता है जबकि साक्षात् संलग्न दिखाई देने वाला व्यक्ति उतना भागीदार नहीं होता। कोई करता हुआ दिखाई देता है पर यथार्थ कर्ता नहीं है। कोई करता नहीं है फिर भी उसे उस कर्म का फल भोगना पड़ता है। भावों की ऐसी ही विचित्रता है। इसीलिये पाप में जाते मन को अंकुश लगाने की आवश्यकता है। मानसिक पाप ही भाव-हिंसा है।

विचित्र हैं हिंसा के समीकरण

द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा के ऐसे-ऐसे समीकरण बनते रहते हैं कि कई बार हिंसा और अहिंसा का गणित कुछ विचित्र सा लगने लगता है। जैसे कहीं हिंसा एक व्यक्ति करता है और उससे होने वाला पाप-बंध अनेकों को होता है। या हिंसात्मक कार्य अनेक लोग मिलकर करते हैं परन्तु उसका फल एक ही व्यक्ति को भोगना पड़ता है।

करे एक : भोगें अनेक–

कुछ लोग पशु-पक्षियों को लेकर क्रूर खेलों का प्रदर्शन करते हैं। इन खेलों में अनेकों पशु-पक्षियों का निर्दयता-पूर्वक घात कर दिया जाता है। खेल का आयोजन या दिखाने का कार्य कुछ लोग करते हैं। वे तो पाप के भागी होते ही हैं परन्तु हजारों लोग जो उन खेलों को देखने जाते हैं, उन्हें प्रोत्साहित करते हैं और उनकी प्रशंसा-अनुमोदना करते हैं, वे सब भी उस हिंसा के भागीदार होते हैं। यहां करने वाला एक होता है, या कुछेक होते हैं, और उसका फल भोगने वाले अनेक होते हैं।

करें अनेक : भोगे एक–

एक राज्य का स्वामी दूसरे राज्य पर आक्रमण करके उसके साथ युद्ध छेड़ देता है। हजारों सैनिक एक दूसरे को मारते हुए मर जाते हैं। यहां हिंसा का कारण सिर्फ युद्ध छेड़ने वाला व्यक्ति ही है। वही वास्तव में हिंसक है और उस पूरी हिंसा का जिम्मेदार है। सैनिक तो केवल अपनी आजीविका के लिये शस्त्र चलाते हैं। उन्होंने ऐसी नौकरी चुनी, या मजबूरी में उन्हें ऐसी नौकरी स्वीकार करनी पड़ी, जिसमें दूसरों के हित के लिये किसी को मारना पड़ता है या स्वयं मरना पड़ता है। उतनी दूर तक वे उसका फल भी भोगेंगे, परन्तु यहां करने वाले अनेक होते हैं और उसका फल भोगने वाला एक होता है।

करे थोड़ा : भोगे बहुत–

हिंसा के तीव्र परिणामों में यदि हिंसा अल्प भी होगी तो भी उस हिंसा का तीव्र फल भोगना पड़ेगा। किसी के परिणाम तो अधिक तीव्र-हिंसा के नहीं हैं, परन्तु अचानक उसके हाथ से हिंसा अधिक हो गई, ऐसी हालत में अधिक हिंसा होते हुए भी फल अल्प ही भोगना पड़ेगा। कभी-कभी ऐसा हुआ है कि बालक की आदतें सुधारने के लिये माँ ने उसे एक-दो चाँटे मारे और कहीं मर्म-स्थल पर चोट लगने के कारण बालक की मृत्यु हो गई। ऐसी घटना में माँ के अभिप्राय को देखते हुए उसे हत्यारिन नहीं कहा जाता। उसे हत्या का पाप भी नहीं लगेगा।

करें समान : भोगें हीनाधिक—

कभी कई लोग मिलकर हिंसा का कोई कार्य करते हैं। ऐसा समझना ठीक नहीं होगा कि उसका फल भी उन्हें एक सा लगेगा। कार्य करते समय उसे लेकर सबकी भावनाएं जुदी-जुदी हैं। किसी के मन में तीव्रता है, किसी के मन में मन्दता है। हो सकता है उस समय किसी के मन में उस कार्य के प्रति अरुचि भी हो। कार्य सम्मिलित प्रयत्नों से हुआ है फिर भी अपनी-अपनी भावनाओं के अनुरूप किसी को हिंसा का अधिक फल भोगना पड़ेगा और किसी को कम फल भोगना होगा।

करें बाद में : भोगें पहले—

हिंसा के संकल्प में और हिंसा की क्रिया में समय-भेद होता है। पाप-बंध तो संकल्प के साथ ही हो जाता है। हिंसा बाद में होती रहती है। ऐसे में कई बार हिंसा होने के साथ ही साथ हिंसक को उसका फल भी मिल जाता है। कई बार फल पहले ही मिल जाता है, हिंसा बाद में होती रहती है।

करे कोई : भरे कोई—

कई बार अनजान व्यक्ति को, या भोले बालकों को फुसलाकर किसी को गोली का निशाना बनवा दिया जाता है। कई बार किराये के हत्यारों के माध्यम से अपनी राह का रोड़ा हटाया जाता है। ऐसी हालत में जिसके हाथ से प्राणि-घात होता है उसे उतनी हिंसा नहीं लगती जितनी उसे प्रेरित करने वाले को लगती है। पाप के लिये प्रेरणा देने वाला ही वास्तविक पापी माना जाता है।

इस प्रकार हिंसा की योजना और हिंसा की क्रिया के अनुसार उसके समीकरण बदल जाते हैं। परन्तु यह अटल नियम है कि हिंसा के अपराधी को भाव-हिंसा के अनुरूप फल भोगना ही पड़ता है। कर्म की अदालत में प्राकृतिक न्याय होता है। वहाँ कोई छल-कपट नहीं चलता।

चार मनस्थितियाँ : चार परिस्थितियाँ—

मन, वाणी और शरीर के दुष्प्रयोग से होने वाली हिंसा में चार सम्भावनाएं बनती हैं—

1. एक व्यक्ति ने खेत पर एक साँप देखा, उसे मारने का विचार किया और डण्डा उठाकर उसे मार डाला। यह भाव-हिंसा के अनुरूप द्रव्य-हिंसा घटित हो गई।
2. उसने डण्डा उठाया तब तक साँप भाग गया। वह चाहते हुए भी उसे मार नहीं पाया। यहाँ भाव-हिंसा तो हुई परन्तु द्रव्य-हिंसा घटित नहीं हुई।
3. एक व्यक्ति बैलगाड़ी हाँक रहा था। धोखे से साँप उसके नीचे कुचल कर मर गया। साँप को मारने का उसका कोई इरादा नहीं था। यहाँ भाव-हिंसा का सर्वथा अभाव था, परन्तु द्रव्य-हिंसा हो गई।
4. एक व्यक्ति खेत पर साँप को देखकर भी उसे मारने का विचार नहीं करता। वह सोचता है– "इसने अपना कुछ बिगाड़ा नहीं, व्यर्थ इसके प्राण लेने से मुझे क्या प्रयोजन?" यहां न तो भाव-हिंसा है और न ही द्रव्य-हिंसा है।

चारों स्थितियों में हिंसा के पाप का फल अलग-अलग होगा।

इसी प्रकार मन-वाणी और शरीर के अनुशासन से अहिंसा में भी चार सम्भावनाएं बनती हैं–

1. हिंसा-त्याग की भावना से रहित, अमर्यादित राग-द्वेष-मोह से भरा हुआ स्वच्छन्द जीवन, जहां व्रत और पाप-त्याग के बिना निरन्तर भाव-हिंसा हो रही है, और मन-वचन-काय के असंयम के कारण प्रतिक्षण द्रव्य-हिंसा भी हो रही है। यहां न भाव-अहिंसा है, न द्रव्य-अहिंसा है।
2. कोई बहेलिया जाल फैलाकर बैठा है। संयोगवश एक भी पक्षी जाल में नहीं फँसा। यहाँ भाव-अहिंसा नहीं है, परन्तु द्रव्य-अहिंसा है।
3. कोई डॉक्टर ऑपरेशन कर रहा है। यहां रोगी के तन-मन को पीड़ा तो हो रही है, पर वह उसे कष्ट देने के लिये नहीं, आराम पहुंचाने के लिये दी जा रही है। यहां भाव-अहिंसा तो है, परन्तु द्रव्य-अहिंसा नहीं है।
4. कोई सात्विक व्यक्ति संकल्प करता है कि अमुक समय तक ऐसी सावधानी से चलना है कि मेरे द्वारा किसी जीव की हिंसा न हो

जायें। वह ऐसे यत्नाचार-पूर्वक अपने आवश्यक कार्य कर भी लेता है कि किसी जीव की हिंसा उसके माध्यम से नहीं होती। यहाँ भाव-अहिंसा है और द्रव्य-अहिंसा भी है। यहाँ भी चारों स्थितियों में मनोभाव के अनुरूप फल जुदे-जुदे होंगे।

हिंसा-प्रतिहिंसा की अंतहीन श्रृंखला–

कुछ लोग हिंसा के जवाब में हिंसा के द्वारा ही उसका उत्तर दे देना आवश्यक और उचित मानते हैं। उनका यह भी विश्वास है कि इस प्रकार प्रतिहिंसा के प्रयोग से हिंसा को समाप्त किया जा सकता है। परन्तु ऋषि-मुनियों के वचनों से, और अपने अनुभव से भी यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है कि प्रतिहिंसा किसी हिंसा को रोकने या समाप्त करने का उपाय नहीं है। उससे तो हिंसा और पनपती है। बैर-विरोध को और प्रोत्साहन ही मिलता है। बैर की वह वासना जन्मान्तर तक जीव के साथ रहती है। अवसर पाते ही वह अपना बदला लेती है। इस प्रकार हिंसा-प्रतिहिंसा की यह श्रृंखला अंतहीन होती चली जाती है।

इस प्रसंग में सदन कसाई की कथा याद आती है। सदन किसी धनिक की भोजनशाला के लिये मांस की व्यवस्था करता था। एक दिन खाने वाले अधिक नहीं थे अतः सदन ने विचार किया– "बकरे को पूरा काटने से क्या लाभ? जितना चाहिये उतना ही मांस निकालूं ताकि कल भी ताजा मांस मिल सके।"

सदन छुरी लेकर बकरे के सामने आया। उसे देखकर बकरा हँस पड़ा। पूछने पर बकरे ने कहा– "अब शायद हमारी दुश्मनी घट जायेगी। एक जन्म में तुम मुझे कसाई बनकर काटते हो, फिर दूसरे जन्म में तुम बकरा बनकर जनमते हो और मैं कसाई बनकर तुम्हें काटता हूं। यह सिलसिला अनेक जन्मों से चला आ रहा है। आज तुम सिर्फ अंग-भंग करने के इरादे से आये हो न? यदि ऐसा हो तो हमारी दुश्मनी कुछ तो घटेगी। हर जन्म में थोड़ी-थोड़ी भी घटती रही तो किसी दिन समाप्त भी हो जायेगी। आज जितना मांस तुम लोगे, अगले जन्म में मैं तुम्हारे शरीर से उससे कुछ कम ही लूंगा।

कहते हैं सदन हाथ की छुरी हमेशा के लिये फेंक कर भाग आया। फिर उसके जीवन की दिशा ही बदल गई। सोचना चाहिये कि कैसे घटे प्रतिहंसा का व्यवहार?

आग को कैरोसिन और पैट्रोल से नहीं बुझाया जा सकता। उसे बुझाने के लिये पानी की ही व्यवस्था करनी पड़ेगी। हिंसा को भी प्रतिहिंसा या क्रोध से कभी समाप्त नहीं किया जा सकता। क्षमा और समता से ही उस वासना को निर्मूल किया जा सकता है। उसके लिये अन्य कोई उपाय नहीं है।

हिंसा के पक्ष में थोथे तर्क–

जैसे-जैसे हिंसा का प्रसार होता गया और मांसाहार बढ़ता गया, वैसे ही वैसे इन्द्रिय-लोलुप व्यक्तियों ने अपनी करनी को तर्क के आधार पर उचित ठहराने के प्रयत्न भी किये। अनेक शास्त्रों में क्षेपण करके हिंसा-समर्थक प्रसंग जोड़े गये। अर्थ का अनर्थ किया गया। अनेक असंगत मान्यताओं का आधार लेकर हिंसा को पुण्य और धर्म से भी जोड़ा गया। उनमें से कुछ धारणाओं का हम यहां उल्लेख करेंगे–

- देवताओं के लिये हिंसा करना।
- पूज्य पुरुषों के स्वागत-सत्कार में हिंसा करना।
- शाकाहार में अनेक जीवों की हिंसा होती है परन्तु मांसाहार में केवल एक जीव की हिंसा होती है, इसलिए मांसाहार ही भला है, ऐसा मानना।
- हिंसक जीवों को मार देने से अनेक जीवों की रक्षा होती है ऐसा मानकर हिंसक प्राणियों की हिंसा को उचित ठहराना।
- इसी प्रकार हिंसक मनुष्यों का वध भी उचित मानना।
- दुखी जीवों को दुख से छुड़ाने के लिये मार डालना।
- सुखी जीव को मार देने से दूसरे भव में उसे वैसा ही सुख मिलता है, अतः किसी जीव को सुखी स्थिति में मार देना।
- समाधि से सुगति की प्राप्ति होती है, ऐसा मानकर, समाधिस्थ साधु का सिर काट लेना। समाधिस्थ दशा में मरेगा तो सीधा मोक्ष जायेगा, ऐसा मानकर अपने गुरु का ही घात कर देना।
- दूसरे को भोजन कराने के लिए अपने शरीर का मांस निकाल कर दे देना, इस प्रकार अपना घात करना।

उपरोक्त क्रियायें हिंसा ही हैं। मनमाने आधार देकर इन क्रियाओं को धर्म मानना, या हिंसा-रहित बताना न तो तर्क की कसौटी पर खरा

उतरता है, और न ही पाप-पुण्य के संदर्भ में उसका कोई औचित्य सिद्ध होता है। जो हिंसा करेगा वह नियम से पाप का भागी होगा। जो अग्नि में हाथ डालेगा वह नियम से जलेगा।

अंगुलिमाल का गणित–

वह एक डाकू था। आते-जाते राहगीरों को लूटना उसका रोज का काम था। जिन्हें लूटता-मारता था उनकी अंगुली की एक हड्डी वह अपने गले की माला में जोड़ता जाता था। माला रोज-रोज बढ़ती जा रही थी। लोग उसका असली नाम जानते ही न थे। उनके लिये उसका नाम था दस्यु "अंगुलिमाल"।

एक दिन कोई बुद्धिमान व्यक्ति अंगुलिमाल के व्यूह में फँस गया। "जो तुम्हारे पास हैं, निकाल कर यहां रख दो और मरने के लिये तैयार हो जाओ।" अंगुलिमाल ने धमका कर कहा।

"भाई, तुम कौन हो. हमने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है? तुम्हें जो चाहिए सो ले लो, पर हमें मारना क्यों चाहते हो?"

—"मैं अंगुलिमाल हूं। इस रास्ते पर आये हो तो तुमने मेरा नाम अवश्य सुना होगा। मैं भिक्षा नहीं मांगता। बलपूर्वक छीन कर लेता हूं। यही मेरे परिवार की आजीविका है। जिसे मारता हूं उसकी अंगुली की एक हड्डी इस माला में जोड़ लेता हूं।" अंगुलिमाल ने घुटनों तक झूलती अपनी माला दिखाते हुए उत्तर दिया।

—"मुझे तुम पर दया आती है। अपना परिवार पालने के लिए तुमने यह मार्ग चुना जिसमें सैकड़ों निरपराध लोगों की सम्पत्ति छीनते हो और उनका प्राण-हरण करते हो। जानते हो तुम्हें अगले जन्म में इस पाप का हिसाब देना होगा। इसका फल भोगना होगा। क्या उस समय तुम्हारे परिवार वाले इस पाप में हिस्सा बटाने के लिए तुम्हारे साथ होंगे?"

—"हम यहीं बैठे हैं, भागेंगे नहीं। एक बार जाकर अपने परिवारजनों से पूछ तो लो कि वे केवल तुम्हारी कमाई के भागीदार हैं या पाप-पुण्य में भी भागीदारी निभायेंगे?"

भद्र पुरुष के आत्म-विश्वास ने और उनकी गम्भीरता ने अंगुलिमाल को प्रभावित कर लिया था। वह चुपचाप अपने बसेरे की ओर गया और थोड़ी ही देर में वापस लौट आया।

—"आपकी आशंका ठीक थी श्रीमान्! मेरे कुटुम्बी कहते हैं— हम सब आपके आश्रित हैं। हमारा पालन-पोषण आपका कर्त्तव्य है। उसके लिये हमने तो आपसे लूट और हत्या का मार्ग अपनाने को नहीं कहा। आप स्वेच्छा से जो कुछ करते हैं, उसके फल से हमारा क्या सम्बंध?" अंगुलिमाल का स्वर एकदम बदला हुआ था। वह परलोक के भय से भीतर ही भीतर काँप रहा था।

—"उन्होंने ठीक कहा है अंगुलिमाल! संसार में सब को अपने भले-बुरे कृत्य का फल स्वयं ही भोगना पड़ता है। उसमें कोई भागीदार हो ही नहीं सकता। तुमने इस घोर पाप में जीवन का एक बड़ा भाग खो दिया। परन्तु अभी विलम्ब नहीं हुआ। पाप का मार्ग छोड़कर अब भी तुम अपने आप को सुधार सकते हो। भगवान की भक्ति का सहारा लेकर इसी जन्म में अपने सारे पाप समाप्त भी कर सकते हो।"

अंगुलिमाल का हृदय-परिवर्तन हो चुका था। अब वह एक दूसरा ही व्यक्ति था। दूसरे ही क्षण वह "अंगुलिमाल" उसके गले से निकल कर एक ओर जमीन पर पड़ी थी और उसे गर्व से धारण करने वाला दस्यु अंगुलिमाल उन भद्र पुरुष के चरणों में लोट रहा था। कल्याण के मार्ग पर चलने का संकल्प ले रहा था।

व्यक्ति विवेक का सहारा लेकर और धर्म पर आस्था बनाकर अपने जीवन में कितना बड़ा परिवर्तन कर सकता है, वह नर से नारायण बनने की दिशा में आगे बढ़ सकता है, इसका एक उदाहरण बना अंगुलिमाल।

हिंसा के भेद—

यह सृष्टि सूक्ष्म और स्थूल, स्थिर और जंगम जीवों से ठसाठस भरी हुई है। यहां कोई स्थान, और कोई पदार्थ जीव-विहीन नहीं है, इसलिये मनुष्य को पूर्ण अहिंसक हो जाना संभव नहीं। मन-वचन और काय की प्रवृत्ति होती रहे और हिंसा न हो, ऐसा सम्भव नहीं है।

ऐसी स्थिति में हिंसा से बचकर, अहिंसा की ओर जीवन को प्रेरित करने के लिये जैन दार्शनिकों ने अल्पतम हिंसा वाली जीवन-पद्धति का आविष्कार किया है। उन्होंने व्यावहारिक ढंग से वर्गीकरण करके हिंसा के चार भेद किये हैं—

1. संकल्पी-हिंसा
2. आरम्भी-हिंसा
3. उद्योगी-हिंसा
4. विरोधी-हिंसा

1. संकल्प पूर्वक किसी प्राणी को पीड़ा देना या उसका वध करना "संकल्पी-हिंसा" है। आतंकवाद, साम्प्रदायिक दंगों, जाति विरोधी हमलों और मांस-भक्षण के लिये की गई शिकार आदि प्रवृत्तियों में होने वाली हिंसा इस परिभाषा में आती है। धार्मिक अनुष्ठानों का बहाना लेकर की जाने वाली बलि आदि भी संकल्पी हिंसा है। मांस-भक्षण भी इसी कोटि में आता है।

2. अपने जीवन के लिये अनिवार्य कार्यों में, भोजन बनाने, नहाने-धोने, वस्तुओं को उठाने-रखने, उठने-बैठने, सोने तथा चलने-फिरने में अपरिहार्य रूप से जो जीव-घात होता है उसे "आरम्भी-हिंसा" कहा गया है।

3. आजीविका उपार्जन के लिये नौकरी में, खेती में और उद्योग-व्यापार में अपरिहार्य रूप से जो जीव-हिंसा होती है वह सब "उद्योगी-हिंसा" की परिभाषा में आती है। इसमें यह स्मरणीय है कि अहिंसा का समर्थक व्यक्ति अपनी आजीविका के लिये ऐसे ही कार्य-व्यापार चुनेगा जिनमें कम से कम जीव-घात हो। अधिक हिंसा वाले कार्यों से वह सदैव अपने आपको तथा अपने परिवार को बचाने की चेष्टा करेगा।

4. अपने कुटुम्ब-परिवार की रक्षा करते हुए, अपने शील-सम्मान और सम्पत्ति की रक्षा करते हुए, अथवा धर्म तथा देश के प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह करते हुए, किसी आततायी या आक्रमणकारी का सामना करते समय जो हिंसा करनी पड़े वह "विरोधी-हिंसा" है।

साधक को गृहस्थ अवस्था में अपनी आजीविका के लिये, अपने परिवार तथा समाज के लिये, और अपने राष्ट्र-धर्म तथा धर्मायतनों के लिये, बहुत से कर्त्तव्य-पालन करने पड़ते हैं। उपरोक्त चारों प्रकार की हिंसा का त्याग कर देने पर उन कर्त्तव्यों का निर्वाह नहीं हो सकता। इसलिए गृहस्थ को मात्र संकल्पी-हिंसा के त्याग का उपदेश दिया गया

है। उसके लिये आरम्भी-हिंसा अपरिहार्य मानी गई है तथा विरोधी और उद्योगी-हिंसा को भरसक बचाना और आपत्-धर्म मानकर उसमें प्रवृत्त होना उसके विवेक पर छोड़ दिया गया है।

जीवन से पलायन नहीं है अहिंसा–

अहिंसा की साधना में लगा हुआ गृहस्थ हिंसा के लिये हिंसा नहीं करेगा। "संकल्पी-हिंसा" उसके आचरण से निकल जायेगी। वह व्यापार अथवा नौकरी आदि के द्वारा अपने परिवार की आजीविका का उपाय करेगा। परिवार की पालना और सुरक्षा करेगा, तथा अपने समाज पर, अपने देश, धर्म और साधु-संतों पर, तथा तीर्थों-मन्दिरों पर आने वाली बाधाओं का समुचित रूप से निराकरण करेगा। वह अपने राष्ट्र की अस्मिता की रक्षा के लिये आवश्यकता पड़ने पर शस्त्र भी उठायेगा। मारेगा भी और मरेगा भी। फिर भी इससे उसकी अहिंसा कहीं खण्डित नहीं होती।

मन में गौरवान्वित होकर विचारना कि "मैंने अमुक जीव का घात किया है", और लज्जित होकर पश्चाताप करना कि– "नहीं चाहते हुए, बहुत बचाते हुए भी, आज मेरे द्वारा अमुक जीव का घात हो गया है", इन दोनों मनस्थितियों में बड़ा अन्तर है। "हिंसा करना है, करके रहूंगा" और "हिंसा से बचना है, मुझे हिंसा करनी पड़ रही है" इन दोनों संकल्पों में जो अंतर है, वही गृहस्थ को छोटी-मोटी अपरिहार्य हिंसा के बावजूद 'अहिंसक' बनाये रखता है। वह हिंसक नहीं है। हिंसा उसे करनी पड़ रही है। कर्त्तव्य भावना से कठोर होता है।

अहिंसा से व्यक्ति का जीवन निष्पाप बनता है, और प्राणि-मात्र को अभय का आश्वासन मिलता है। इस व्यवस्था से प्रकृति के संतुलन को बनाये रखने में भी सहायता मिलती है। पर्यावरण को संरक्षण मिलता है। इसीलिये तो संतों ने मनुष्य के संयत आचरण को जीव-मात्र के लिये कल्याणकारी कहा है।

इस विधान से यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि अहिंसा का अर्थ कायरता नहीं है। जीवन से पलायन भी अहिंसा का उद्देश्य नहीं है। अहिंसा तो जीवन को व्यावहारिक और संतुलित बनाते हुए स्व और पर के घात से बचने का उपाय है। मानव में मानवता की प्रतिष्ठा का उपाय अहिंसा है।

जीवों के दो प्रकार : त्रस और स्थावर–

संसार के समस्त प्राणी "त्रस" और "स्थावर" के रूप में दो प्रकार के हैं। कहीं-कहीं इन्हें स्थावर और जंगम जीव भी कहा गया है। स्वतः जो चल-फिर नहीं सकते ऐसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति ये पांच स्थावर या स्थिर जीव हैं। इनके अतिरिक्त जो चलते-फिरते दिखाई देते हैं वे सब त्रस या जंगम जीव हैं। अत्यन्त सूक्ष्म कीटाणुओं से लगाकर, जलचर, नभचर और थलचर, पशु-पक्षी, मनुष्य और देवता आदि सृष्टि के समस्त प्राणी इस त्रस या जंगम की परिभाषा में आते हैं।

साधक को अपना जीवन-निर्वाह करने के लिए जो कार्य करने पड़ते हैं उनमें स्थावर जीवों की हिंसा निरंतर होती रहती है। वह जीवन की अनिवार्यता है, अतः उसके त्याग का उपदेश नहीं दिया गया। इतनी अपेक्षा अवश्य की गई है कि अहिंसा का आदर करने वाला व्यक्ति अग्नि, जल, वायु और वनस्पति आदि का भी यत्नाचार पूर्वक उपयोग करेगा। उसके आचरण से इन स्थावर जीवों का भी निरर्थक विनाश नहीं होगा। उसकी असावधानी या लापरवाही से यदि इन स्थावरों का भी आवश्यकता से अधिक घात होता है तो वह अपराध है।

त्रस जीवों की रक्षा के लिये तो साधक को प्रतिक्षण सावधान रहना होता है। सुविचारित जीवन-शैली में कहीं भी, एक भी त्रस-जीव का विघात अनिवार्य नहीं है। उससे तो बचना ही चाहिए।

आज टी.वी.-रेडियो, नल-बिजली, पंखा-कूलर, हीटर, गैस और स्टोव हमारे जीवन की प्राथमिक आवश्यकता में आते हैं। उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता। परन्तु लापरवाही पूर्वक कई बार उनका जो निरर्थक-प्रयोग होता रहता है, बिना जरूरत वे खुले पड़े रहते हैं, उसे रोककर हम अहिंसा के कुछ अधिक निकट पहुंच सकते हैं। वह सब राष्ट्रीय अप-व्यय है, अतः उसे रोकना एक तरह की देश-सेवा भी कही जा सकती है।

हिंसा के दोष का निर्णय उसकी भावना के आधार पर ही किया जाता है। यह तो पहले ही समझा जा चुका है कि हिंसा की नींव चार कषायों, क्रोध-मान-माया-लोभ पर आधारित है। कषाय होती है तो हिंसा होती है। कषाय नहीं होती तब हिंसा भी नहीं होती। कषाय

जितनी कम होगी, हिंसा भी उतनी ही कम होगी।

इस प्रकार हिंसा का स्तर निर्धारित करने के दो साधन हैं— जीव का आपसी अन्तर और कषाय की मात्रा। यदि सभी जीवों की हिंसा का कुफल समान होता, या हिंसा का पाप हिंसित जीवों की संख्या पर निर्भर होता, तो एक व्यक्ति जो दो-चार गाजर-मूली उखाड़ लेता है, और दूसरा व्यक्ति जो एक मनुष्य की हत्या कर देता है, दोनों को समान पापी माना जाता। बल्कि मनुष्य का हत्यारा कुछ कम पापी माना जाता क्योंकि उसने सिर्फ एक प्राणी की हिंसा की है। परन्तु ऐसा नहीं होता। केवल इसलिए कि जिनका विघात हुआ हैं उन दोनों जीवों के स्तर में अंतर है।

स्थावर-जीव की हिंसा के समय उसकी ओर से न कोई प्रतिकार होता है, न किसी तरह के दुख की भावना व्यक्त होती है, इसलिये पृथ्वी-जल-वायु-अग्नि और वनस्पति की हिंसा के समय हिंसक के मन में विशेष क्रूरता या कषाय आना अनिवार्य नहीं है। इसीलिये उस हिंसा का फल भी अल्प है। जैसे-जैसे हम एक-इन्द्रिय से पंच-इन्द्रिय प्राणी की हिंसा की ओर बढ़ते हैं, वैसे ही वैसे कषाय की मात्रा बढ़ती जाती है, परिणामों में क्रूरता अनिवार्य होती जाती है। अतः उसमें उत्तरोत्तर अधिक हिंसा होती है। उसका फल भी वैसा ही अधिक होता है।

नई सभ्यता का अभिशाप : गर्भपात

विज्ञान ने एक ओर जहाँ हमें सुख-सुविधाओं के अनेक उपाय प्रदान किये हैं वहीं दूसरी ओर कुछ अभिशाप भी दिये हैं। यहां मुझे एक ऐसे अभिशाप की ओर आपका ध्यान दिलाना है जो अमानवीय तो है ही, घोर पैशाचिक भी है।

परिवार-नियोजन के लिये एक उपाय निकाला गया है गर्भपात। फिर विज्ञान ने एक और शोध की जिसके द्वारा यह जाना जा सकता हैं कि गर्भस्थ शिशु बेटा हैं या बेटी। निरंतर बढ़ती हुई जन्म-दर से घबराई सरकार, जब गर्भ-निरोधक उपायों से अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पाई तब उसने गर्भपात जैसी हत्यारी-प्रक्रिया को कानून का संरक्षण दे दया। यद्यपि सरकार ने कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में, कुछ शर्तों के साथ ही गर्भपात को जायज माना है, परन्तु जिस देश में कानून

की धज्जियाँ उड़ा कर हर प्रावधान का दुरुपयोग करने की प्रथा पड़ गई हो, वहाँ यही कानून कैसे सुरक्षित रहता!

"सत्तर रुपए में सुरक्षित गर्भपात" जैसे बोर्ड लगाकर, तरह-तरह के विज्ञापन प्रसारित करके, आज गली-गली में ये मानवता के स्लाटर-हाउस खुलते जा रहे हैं। सरकार की विवेक-हीनता से आज हमारे देश में गर्भपात कराना नाई की दूकान पर जाकर बाल कटाने जैसा सुगम और ब्यूटी-पॉर्लर में जाकर श्रृंगार कराने जैसा सस्ता शौक हो गया है। अवैध गर्भ-धारण अब लाइलाज मर्ज नहीं रह गया। उससे मुक्ति पाने का यह उपाय निकल आने से व्यभिचार की प्रवृत्ति निरंकुशता की हद को छूने जा रही है। दम्पति गर्भस्थ शिशु का लिंग-परीक्षण करा लेते हैं और यदि वह शिशु उनकी अभिलाषा के अनुकूल नहीं है तो गर्भपात के माध्यम से उसकी हत्या कर देते हैं।

कितनी बड़ी विडम्बना है कि अपनी विलास-वृत्ति पर अंकुश लगाने के बजाय, आज नारी इतनी निर्मम हो रही है कि वह मातृत्व को कलंकित करने में भी हिचकती नहीं है।

पूरा मनुष्य है गर्भस्थ-शिशु—

गर्भपात के पक्ष में प्रायः यह तर्क दिया जाता है कि गर्भस्थ-भ्रूण मानव-शरीर के निर्माण की एक अविकसित या अर्द्ध-विकसित दशा है। गर्भपात कराने में सिर्फ उस निर्जीव शरीर का ही विनाश होता है, किसी प्राणी का नहीं। विज्ञान और कानून भले ही ऐसा मानते हों कि मनुष्य का जीवन उसके जन्म लेने के क्षण से प्रारम्भ होता है, परन्तु धार्मिक मान्यता ऐसी नहीं है। धर्माचार्य तो यह सिद्ध करते हैं कि गर्भ में आते ही वह भ्रूण कई अर्थों में एक सम्पूर्ण मनुष्य की गिनती में आ जाता है।

शास्त्रों का मत है कि यदि तीन महीने की अल्प-आयु में किसी शिशु का मरण होता है तो वास्तव में वह परलोक से एक वर्ष की आयु लेकर आया था। इस जन्म में उसने वह एक वर्ष की पूरी आयु भोगकर ही मरण किया है। नौ महीने माता के पेट में और तीन महीने धरती-माता की गोद में।

पुराण कथाओं में भी इसके अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। महाभारत में अभिमन्यु की कथा इसका सबसे ज्वलन्त प्रमाण है।

अर्जुन ने अपनी पत्नी सुभद्रा को चक्र-व्यूह में प्रवेश की विधि एक बार बताई थी। उस समय अभिमन्यु सुभद्रा के गर्भ में थे। उन्होंने वहीं उस विधि की धारणा कर ली थी। चक्र-व्यूह भेदने की कला पांडव-पक्ष में अर्जुन को छोड़कर कोई नहीं जानता था। अर्जुन ने यह कला कभी किसी को सिखाई भी नहीं। परन्तु अभिमन्यु ने माता के गर्भ में इसका जो विवरण सुना था उसी के आधार पर, कुरुक्षेत्र के युद्ध में उन्होंने चक्र-व्यूह में प्रवेश किया। व्यूह के बाहर निकलने की विधि जब अर्जुन सुना रहे थे, उस समय सुभद्रा की आंख लग गई थी, इसलिए वह कला अभिमन्यु के पास नहीं थी।

जैन दार्शनिकों की यह स्पष्ट मान्यता है कि जीव की मनुष्य या पशु-पक्षी की पर्याय, माता के पेट में गर्भाधान के साथ ही प्रारम्भ हो जाती है। सभी पोतज और अण्डज प्राणियों में ऐसी ही प्रक्रिया है, इसलिये अण्डा भी जीव है। जितनी देर में हम एक बार साँस लेते हैं इससे भी कम समय में गर्भस्थ भ्रूण की प्राकृतिक संज्ञायें पर्याप्त रूप से सचेष्ट हो जाती हैं। वह साँस लेने लगता है और भूख, निद्रा तथा भय का संवेदन करने लगता है। वह एक पर्याप्त सक्षम-शिशु है।

वैज्ञानिकों ने भी पाया है कि गर्भपात के समय शिशु की चेष्टाओं में परिवर्तन दिखाई देने लगते हैं। उसके हृदय की धड़कन और साँस की गति असामान्य रूप से बढ़ जाती है। उसके शरीर में एक विशेष प्रकार की सिहरन होने लगती है। वह एक अशक्त और असहाय प्राणी है। बाहर आ गया होता तब भी अपने प्राण बचाने के लिये वह माँ की ही शरण तो लेता। किन्तु गर्भपात के समय जब वही माँ स्वयं उसकी हत्या में सहायक हो रही है, तब वह अबोध प्राणी डरने और सिहरने के अतिरिक्त कर ही क्या सकता है?

आज आवश्यकता इस बात की है कि गर्भ और गर्भपात के विषय में यह धार्मिक और वास्तविक पक्ष जन-जन तक पहुंचाया जाये। आधुनिकता की चकाचौंध में लिप्त आज की नारी को भी यह समझना चाहिये कि जिसे गर्भाशय से दूध की मक्खी की तरह निकाल कर फेंका जा रहा है, वह कोई तुच्छ प्राणी नहीं है। वह इस सृष्टि का सबसे विकसित जीव है। वह पूरा मनुष्य है। वह आपकी सन्तान है। जिसे गर्भ में धारण किया है, अपने हाथ से उसका गला घोंट देना क्या राक्षसी कृत्य नहीं है? वह जीव यदि अपनी रक्षा नहीं कर पा रहा है तो यह भी

सोचें कि जब आपको इस हत्या के पाप का फल पड़ेगा तब आपकी रक्षा कौन करेगा?

यदि संयोग से आपको मनुष्य जन्म मिला है तो अपना विवेक भी जाग्रत रखिये। ऐसा दुष्कृत्य मत कीजिए जिससे सारी नारी जाति पर कलंक की कालिख लगती है।

सात्विकता का शत्रु : मांसाहार

भोजन का हमारे विचारों के साथ गहरा सम्बंध है। यह कहावत बहुत सार्थक है कि—

जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन, और
जैसा पीवे पानी, वैसी बोले वानी ।

इसीलिये मन की पवित्रता को बनाये रखने के लिये खान-पान की शुद्धता पर जोर दिया जाता है। यदि हम अपने जीवन में, और अपने व्यवहारों में सात्विकता चाहते हैं तो हमें अपना भोजन-पान सात्विक रखना ही होगा।

मांस-भोजन की उत्पत्ति क्रूरता के बिना नहीं होती। कटने वाले प्राणी की वेदना और काटने वाले की क्रूरता, दोनों का प्रभाव उस भोजन पर होता है। इसीलिये मांसाहारी मनुष्य के मन में कहीं न कहीं, किसी न किसी हद तक, ऐसे क्रूर परिणाम होते हैं जिनका सात्विकता से कोई मेल नहीं है।

आज हमारे देश में हिंसा का जो नंगा-नाच हो रहा है, किसी हद तक मांसाहार का अतिशय प्रचार-प्रसार भी उसका एक कारण है। पके-पकाये डिब्बा-बंद भोजन के नाम पर न जाने क्या-क्या अखाद्य हमारे भोजन में शामिल होता जा रहा है। फल-फूल की तरह गली-गली में अण्डों के ठेले घूमते दिखाते देते हैं। हमारी नई पीढ़ी में यह नया फैशन अभी कुछ ही वर्षों में देखते-देखते आया है।

चिन्ता की बात यह है कि चारित्रिक पतन को "आधुनिकता" और "शिक्षितपने की निशानी" मानकर आज का युवक उस पर लज्जित होने के बजाय अपने आपको गौरवान्वित महसूस करता है। आज वैज्ञानिक विश्लेषण में हानिकर सिद्ध होने के बाद मांसाहार जब पश्चिमी देशों में कम हो रहा है, तब हमारे यहां वह छूत के रोग की तरह फैल रहा है। उसके दुष्परिणाम भी सामने हैं।

हिंसा के और भी नये-नये तौर-तरीके, क्रूरता के अमानवीय और घृणित उदाहरण, रोज देखने-सुनने को मिल रहे हैं। प्लेन गिराकर, ट्रेनें और बसों जलाकर, सैकड़ों शान्ति-प्रिय निर्दोष लोगों को अकारण मौत के घाट उतार देना सामान्य बात हो गई है। अपनी ही माता-बहिनों के साथ पैशाचिक दुष्कृत्य और भोले-नादान दूध-मुँहे बच्चों के जीवन के साथ राक्षसी बर्ताव की खबरों से हमारे अखबार भरे रहते हैं।

यह तथ्य कम महत्व-पूर्ण नहीं है कि इस प्रकार के दुष्कृत्यों में लगे हुए प्रायः शत-प्रतिशत लोग मांसाहारी हैं। भले ही मांसाहार इसका एक मात्र कारण न हो, परन्तु प्रमुख कारण तो है ही। शाकाहारी समुदाय के द्वारा समाज में कभी, कहीं ऐसे अमानवीय कृत्यों की खबरें नहीं सुनी गईं। मांसाहार मनुष्य को अति-निर्दय और क्रूर बना देता है, इस तथ्य की पुष्टि के लिये और क्या प्रमाण चाहिये?

सभी धर्मों में मांसाहार-निषेध—

पशु-वध मांसाहार का अनिवार्य अंग है। पशु-वध के बिना मांसाहार की कल्पना कभी नहीं की जा सकती। ऋषियों और संतों ने आचार-संहिताओं में जगह-जगह पर पशु-वध को पाप बताया है और मांसाहार को नृशंस-प्रवृत्ति बताते हुए उसका निषेध किया है।

मनुस्मृति में आर्य-खण्ड और म्लेच्छ-खण्ड की परिभाषा करते हुए लिखा गया कि—"जहां कस्तूरी मृगों का शिकार होता है वह म्लेच्छ-खण्ड है, और जहां वे निर्भय विचरते हैं वह आर्य-खण्ड है"। महाभारत में यह भी कहा गया है कि— "मारे जाने वाले पशु के शरीर पर जितने रोम होते हैं, पशु-घातक को उतने हजार वर्ष तक नरक में दुख भोगने पड़ते हैं"—

> **यावंति पशुरोमाणि पशुगात्रेषु भारत,**
> **तावद् वर्ष-सहस्राणि पच्यते पशु-घातकः ।**
>
> —महाभारत

मांस-भक्षण को निन्दनीय कृत्य बतलाते हुए यह स्पष्ट कहा गया कि— "दूसरे प्राणी के मांस से जो अपने शरीर का रक्त-मांस बढ़ाने की अभिलाषा करते हैं, संसार में उनसे अधिक क्षुद्र कोई नहीं है। वे तो अत्यंत निर्दय मनुष्य हैं"—

स्वमांसं परमांसेन, यो वर्धयितुमिच्छति,
नास्ति क्षुद्रतस्तस्मात, स नृसंसतरोनरः ।
—महाभारत अनुशासनपर्व/116

विष्णु-पुराण में मांसाहारी मनुष्य को दूसरे के जीवन पर निर्वाह करने वाला निन्दनीय बताते हुए कहा गया कि— "ऐसा व्यक्ति अगले जन्मों में नीच कुल में उन्पन्न होकर अल्पायु और दरिद्रता का जीवन व्यतीत करेगा"—

अल्पायुषो दरिद्राश्च, परकर्मोपजीविनः,
दुष्कुलेषु प्रजायन्ते, ये नराः मांसभक्षकाः ।
—विष्णु-पुराण

गुरु ग्रन्थसाहब में बताया गया है कि— "जब थोड़ा सा रक्त लग जाने से पूरा वस्त्र कलंकित और अपवित्र हो जाता है तब जो मनुष्य रक्त-मांस का भोजन करेगा उसका चित्त कैसे निर्मल रह सकता है?"—

जो रत लागै कापड़ा, जामा होय पलीत,
जो रत पीवै माणसा, तिन क्यों निर्मल चीत ।
—गुरु ग्रन्थसाहब/15-140

संत कबीर ने सात्विक खान-पान पर जोर देते हुए मांस-भक्षण का तीव्र-विरोध किया है। उनके मांसाहार-विरोधी उपदेश प्रायः सभी धर्मों-सम्प्रदायों में मान्य किये गये और आदर के साथ दूसरे धर्म-ग्रन्थों में उन्हें सम्मिलित किया गया। सिख-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी उनकी ऐसी वाणी संकलित है। "गुरु ग्रन्थ साहब" में कबीर की चार पंक्तियां एक जगह आती हैं—

—"मांस के लिये बेकसूर जीवों की हत्या बड़ी निर्दयता है। तुम भले ही इसे हलाल कहकर अपने मन को भरमा लो, परन्तु है तो यह अपराध। एक दिन तुम्हें भगवान के सामने इसका जवाब देना होगा, तब सोचो तुम्हारी क्या दशा होगी"?—

कबीर किया सो जुलुम है, कहताँ रहो हलाल,
दफ्तर लेखा माँगिये, तब होयगो कौन हवाल ।

उन्होंने कहा– "स्वादिष्ट खिचड़ी, जिसमें अमृत जैसा नमक पड़ा है, संतोष से खाना चाहिये। अपना पेट भरने के लिये दूसरे का गला काटना उचित नहीं"–

खूब खाना खीचड़ी, माँहि पड़ा टुक लोन,
मास पराया खाइ कर, गला कटावै कौन ?

अपने मांसाहार-विरोधी विचारों को शब्दों का कठोरतम जामा पहनाते हुए कबीर ने स्पष्टतः मांसाहारी को नरक का पात्र बताया–
–"जिसने जरा सा भी मांस-भक्षण किया है, चाहे वह करोड़ों गोदान करे, चाहे अंत समय में काशी-करवट से ही अपने जीवन की समाप्ति करे, उसे नियम से नरक ही जाना पड़ेगा"–

तिल भर मछरी खायकै, कोटि गऊ दे दान,
कासी करवट लै मरै, तौ भी नरक निदान।

कृत-कारित-अनुमोदना और समरम्भ-समारम्भ-आरम्भ से मांस-भक्षण में सहायक सभी लोगों को वधिक या हत्यारा कहा गया है। उन सबको पाप का भागीदार बताया गया है–
–"मांस के लिये प्राणी-वध की अनुमति देने वाला, उसे मारने वाला, काट-काट कर पृथक करने वाला, मांस बेचने वाला, खरीदने वाला, लाने या परोसने वाला और स्वयं खाने वाला, जीव-वध में ये सभी घातक हैं सभी समान रूप से हिंसक हैं"–

अनुमंता, विशंसिता, निहंता, क्रय-विक्रयी,
संस्कर्ता चोपहर्ता च, खादकश्चेति घातकाः ।

अहिंसा में विश्वास रखने वालों को और पाप से बचने की अभिलाषा रखने वालों को पशु-वध और मांस-भक्षण से बचना चाहिये। मांस-मछली, अण्डा और मदिरा, तामसिक आहार कहे गये हैं। इनके सेवन से आचरण में तामसिक-वृत्तियों का ही प्रादुर्भाव होता रहता है।

विश्व-विख्यात मनीषियों के विचार

पाइथागोरस–

कुछ विद्वानों का विचार है कि पाइथागोरस पश्चिम में शाकाहारी भोजन का उपदेश देने वालों का पितामह था। वह स्वयं दयालु और कोमल-हृदय था। कहा जाता है कि एक बार उसने एक कुत्ते की चीखें सुनी। उसने मारने वाले से कहा, "इसे मत मारो, इसकी चीखों में मुझे एक दोस्त के रोने की आवाज सुनाई देती है।"

पाइथागोरस एक ऐसा व्यक्ति था जिसने हमें अपनी थाली में जानवरों का मांस रखने तक की सख्त मनाही की है। उसने जोरदार शब्दों में कहा है–

–"दोस्तो! अपने शरीर को पापपूर्ण भोजन के द्वारा नापाक या गन्दा मत करो। हमारे पास अनाज है, सेब, अंगूर आदि फलों से लदे वृक्ष हैं। मिठास और सुगन्धि से परिपूर्ण कन्द-मूल तथा सब्जियां हैं, जो अग्नि पर पकाई जा सकती हैं। दूध तथा खुशबूदार शहद की भी कमी नहीं है। ऐसे पवित्र, निर्दोष आहार से धरती भरपूर है और ऐसी दावतों का सामान प्रस्तुत करती है, जिसे प्राप्त करने के लिये किसी का रक्त बहाने या किसी की हत्या करने की जरूरत नहीं।"

पाइथागोरस सुबह के खाने में रोटी और शहद तथा शाम को कच्ची तथा पकाई हुई सब्जियां लेता था। इएम्बोलिनस पाइथागोरस की जीवनी में लिखता है कि वह मछुओं को पैसे देकर पकड़ी हुई मछलियां वापस समुद्र में छुड़वा देता था। वह जंगली रीछों को सहलाता था। वह मक्का और अनाज पर गुजारा करता था और पशुओं के वध तथा शराब से नफरत करता था। पाइथागोरस के अनुसार निरामिष अथवा शाकाहारी भोजन मनुष्य में शान्ति पैदा करता है तथा वासनापूर्ण निम्न वृत्तियों को भड़कने से रोकता है।

एक अन्य ग्रीक दार्शनिक तथा कवि सैनेका का कथन है कि पाइथागोरस मांस से परहेज करता था। वह पुनर्जन्म के सिद्धान्त को पाइथागोरस के भोजन-सम्बन्धी विचारों का आधार मानता था। सैनेका कहता है कि– "मुझ पर भी इन विचारों का प्रभाव पड़ा और मैंने मांस खाना त्याग दिया। एक साल के अन्दर यह आदत उतनी ही सुखद लगने लगी जितनी कि यह आसान भी थी। मुझे महसूस होने लगा कि मेरा मन पहले से अधिक सजग और चेतन हो गया है।"

प्लूटार्क–

प्लूटार्क कहता है– "क्या तुम सचमुच यह पूछने का दुस्साहस कर सकते हो कि पाइथागोस मांस क्यों नहीं खाता था? मैं तो इस बात पर हैरान हूं कि वह मनुष्य–जिसने दुनिया में पहली बार मांस खाया, पता नहीं किस दुर्घटना का शिकार था। उसकी आत्मा किस दिशा में थी कि उसने जानवरों का मांस अपने ओठों पर छुआया और दूसरों में बरताया।"

–"जो पशु मारे जाने से पहले प्रसन्नतापूर्वक विचरते, उछलते-कूदते फिरते थे, उसने उन पशुओं के निष्प्राण और गलित अंगों को खुराक का नाम कैसे दे दिया? उसकी आंखें जानवरों को गलते कटते, उनकी खाल खिंचते और उनकी बोटी-बोटी कटते देखना सहन कैसे कर सकीं? उसकी नाक उस बदबू को कैसे बरदाश्त कर सकी? यह सब दुर्गन्ध और गन्दगी क्या उसके मुंह का स्वाद न बिगाड़ सकी? मनुष्य कैसे पशुओं के घावों में से वसा और खून चूस सका?"

–"हम ऐसे निर्दोष जीवों को कैसे मारते हैं, जिन्होंने हमारा कुछ नहीं विगाड़ा। जिनके न तीखे दांत हैं, न विषैले डंक। जिनको निश्चय ही प्रकृति ने सुन्दरता और शोभा के लिये बनाया है। परन्तु हमें शर्म नहीं आती। थोड़े से मांस की खातिर हम उनसे सूर्य का प्रकाश और जीवन तक छीन लेते हैं, जिसके कि वे अपने जन्म से ही अधिकारी हैं।"

लिनार्डो दा विंसी–

महान चित्रकार, कलाकार, विचारक और वैज्ञानिक लिनार्डो दा विंसी भी कट्टर शाकाहारी था। उसे आधुनिक पश्चिमी सभ्यता का प्रथम शाकाहारी कहा जाता है। वह कहता था कि कोई ऐसी चीज मत खाओ जिसमें रक्त मिला हो और न ही किसी जीव की हिंसा करो। वह हर प्राणी के जीवन को पवित्र मानता था। उसने कहा– "जो दूसरों की कद्र नहीं करता, वह खुद भी जिन्दा रहने का हकदार नहीं।"

–"प्रकृति नहीं चाहती कि एक जीव दूसरे का घात करे। भेड़ों, बकरियों, गायों आदि को खाने के अन्याय के प्रति वह बहुत घृणा प्रकट करता था। विंसी कहता है, "एक समय आयेगा जब मनुष्य पशुओं के वध को उसी प्रकार दुष्ट कर्म, हत्या समझेगा, जिस प्रकार कि आज मनुष्य की हत्या को समझा जाता है।"

वैगनर–

प्रसिद्ध संगीतकार वैगनर भी शाकाहार का दृढ़ समर्थक था। वैगनर मांस, शराब और तम्बाकू तक के विरुद्ध था। पशु-वध के विरुद्ध चलने वाले ब्राह्मणों और बौद्धों की प्रशंसा करते हुए वह कहता है कि– "बौद्ध इतने दृढ़ शाकाहारी थे कि दुर्भिक्ष के दिनों में पशुओं की मौत उनको पालने वालों की मौत के बाद ही होती थी। उसकी अपने शिष्यों को सख्त हिदायत थी कि कभी मांसाहार न करें। उसके कई शिष्य और प्रशंसक शाकाहारी थे।"

एलबर्ट स्वाइट्ज़र–

प्रसिद्ध दार्शनिक, चिन्तक तथा 1952 में शान्ति के लिए नोबल प्राइज के विजेता एलबर्ट स्वाइट्ज़र पशु-हत्या तथा मांसाहार के सख्त खिलाफ थे। कैद हुए जानवरों को, तथा सरकस आदि में करतब दिखाते जानवरों को देखना तक उन्हें बरदाश्त नहीं था। वे फूल तोड़ने को भी अपराध मानते थे।

टाल्स्टाय–

प्रसिद्ध विद्वान, लेखक तथा दार्शनिक लियो टाल्स्टाय अपने जीवन के अन्तिम बीस वर्षों में पक्के शाकाहारी हो गये थे। उन्होंने कहा– "जब मैंने परमात्मा में विश्वास करना शुरू कर दिया तभी मेरा असली जीवन शुरू हुआ। जब मेरे अन्दर परमात्मा में विश्वास नहीं था उस समय मैं वास्तव में मुर्दा था।"

सन् 1982 में टाल्स्टाय ने शिकार का पूर्ण त्याग कर दिया। यहां तक कि उसने अपने बीते हुए जीवन पर पश्चाताप किया, और शिकार के शौकीन अपने दो पुत्रों, सर्जे और इलया से अलग रहने लगा।

टाल्स्टाय ने अपने एक लेख में कहा– "संसार भर में इस्तेमाल की जा रही हशीश, अफीम, शराब और तम्बाकू का कारण यह नहीं है कि इनसे स्वाद, रस, मनोरंजन या खुशी मिलती है। इनके इस्तेमाल का कारण यह है कि मनुष्य अपनी आत्मा या विवेक-बुद्धि की आवाज से डरता है और उससे बचने के लिये इन वस्तुओं का सहारा लेता है।"

जार्ज बर्नार्ड शॉ–

जब ए.जे. फर्नीवाल ने ऑक्सफोर्ड के यूनिवर्सिटी कालेज में शैले समाज की स्थापना की तो प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान्, आलोचक तथा नाटककार जार्ज बर्नार्ड शॉ भी इसमें शामिल हो गये। इस सोसायटी की पहली सभा में ही शॉ ने घोषणा की कि– "मैं भी शैले की तरह शाकाहारी भोजन में दृढ़ विश्वास रखता हूं।"

एक बार बर्नार्ड शॉ सख्त बीमार हो गये। डाक्टरों ने उनकी प्राण-रक्षा के लिये उनसे मांस खाने का अनुरोध किया, परन्तु शॉ ने उत्तर दिया– "मेरी हालत अजीब है। मेरे जीवन को उसी दशा में बच सकने का भरोसा दिलाया जा रहा है जब मैं गो-मांस खाना स्वीकार करूं। परन्तु दूसरों के रक्त और मांस के भक्षण से तो मैं मौत बेहतर समझता हूं। मैंने अपनी अंत्येष्ठि के लिये वसीयत कर दी है। मैं चाहता हूं कि मेरी शव-यात्रा में शोक प्रकट करने वाली गाड़ियों और मोटरों की जगह गायों, भेड़ों, बकरियों के समूह और मुर्गियों के टोले हों। उनके गले में सफेद गुलूबन्द हों जो उस व्यक्ति के लिये सत्कार प्रदर्शन कर रहे हों जिसने अपने साथी प्राणियों को खाने के बदले मर जाना बेहतर समझा।"

मांस खाने वाले लोगों का हाल देखकर जार्ज बर्नार्ड शॉ ने एक छोटी-सी दर्द भरी कविता लिखी है जिसमें उन्होंने लिखा–

–"हम मांस खाने वाले लोग ऐसी चलती-फिरती कब्रें हैं, जिनमें वध किये हुए उन जानवरों की लाशें दफ़न की गई हैं, जिन्हें हमारे स्वाद के लिये मारा गया है। मुर्दों का मांस नोंच-नोंच कर खाने वाले कौओं की तरह हम अपने आपको मांस पर पालते हैं। हमें इस बात की चिन्ता या परवाह नहीं है कि इसमें जीवों को कितनी भयानक पीड़ा होती है"–

We are living graves of murdered beasts,
Slaughtered to satisfy our appetites.
Like carrion crows we live and feed on meat,
Regardless of the suffering and the pain.

George Bernard Shaw

रेवरेण्ड चार्ल्स डब्ल्यू. लेडबीटर—

सब धर्मों की यह शिक्षा है कि मनुष्य को हमेशा परमात्मा की इच्छा की ओर प्रवृत्त होना चाहिये, उसे बुराई के मुकाबले में नेकी की ओर, अथवा पतन के मुकाबले में विकास की ओर चलना चाहिये। जो मनुष्य स्वयं को विकास के पक्ष में दृढ़ रखता है, वह जानता है कि— "जीवों की हत्या करना कितनी बड़ी दुष्टता है। वह जानता है कि जानवरों में जो जीवन है वह भी प्रभु की देन है, और संसार में सभी प्रकार का जीवन ईश्वरीय है, इसलिये सभी पशु-पक्षी वास्तव में हमारे बन्धु हैं। हमें अपने स्वाद की खातिर उनके प्राण लेने का कोई अधिकार नहीं है। हमें कोई अधिकार नहीं है उन्हें अपार यातना और कष्ट पहुंचाने का।"

अलबर्ट आईन्स्टाइन—

महान वैज्ञानिक, विचारक तथा विद्वान अलबर्ट आईन्स्टाइन कहते हैं— "मेरा दृढ़ विश्वास है कि शाकाहारी जीवन की रीति मनुष्य के स्वभाव पर इतना लाभप्रद असर डालती है कि यदि इसे अपना लिया जाये तो सम्पूर्ण मानव-जाति की अवस्था सुधर जायेगी।"

महात्मा गांधी—

—"मैं मांस खाना किसी हालत में भी आवश्यक नहीं समझता। किसी परिस्थिति में भी मनुष्य के लिये मांस खाना उचित नहीं है। हम पशुओं से ऊंचे हैं। मांस खाकर निचली जीव-श्रेणी के समान कर्म करना हमारे लिये उचित नहीं है।"

सुभाषचन्द्र बोस—

—"हमारे ऋषि-मुनि कहते चले आये हैं कि अहिंसा के लिये मांसाहार का त्याग आवश्यक है। सिर्फ ऋषि-मुनि ही क्यों, परमात्मा ने स्वयं कहा है। क्या किसी को उस परमात्मा के प्राणियों का वध करने का अधिकार है? क्या यह बहुत बड़ा अपराध नहीं? मैं उन लोगों से सहमत नहीं जो कहते हैं कि मांस न खाने से शारीरिक बल घटता है। हमारे ऋषि-मुनि इतने अज्ञानी नहीं थे कि वे मनुष्य के लिये लाभदायक होने पर भी उसे मांस-मछली खाने की मनाही करते।"

डाक्टर एनी बेसेन्ट–

प्रसिद्ध थिओसाफिस्ट श्रीमती एनी बेसेन्ट भी कट्टर शाकाहारी थीं। वे अपनी पूरी आयु इस मार्ग पर दृढ़ रहीं। थिओसॉफी मानवीय बन्धुत्व का उपदेश देती है और किसी भी पशु, पक्षी अथवा जीव को मारने की मनाही करती है। एनी बेसेन्ट का कथन है कि–

–"बगैर किसी पशु को मारे मांस प्राप्त नहीं हो सकता। पशु को या तो हम कत्ल करते हैं या किसी दूसरे से उसका वध करवाते हैं। हम अपने आपको बहुत कोमल-हृदय समझते हुए, स्वयं पशु वध करने से झिझकते हैं और किसी दूसरे पर जिम्मेदारी डाल देते हैं। इस प्रकार वध करने वाले व्यक्ति के नैतिक पतन के लिए भी हम खुद जिम्मेदार हैं।

अण्डा : जहरीला और अखाद्य

अभी पिछले दशक तक शाकाहारी समुदाय में अण्डा पूरी तरह निषिद्ध माना जाता था। अण्डा स्वास्थ्य के लिये अहितकर और विशेषकर बालकों के लिये अत्यंत हानिकर बताया गया है। पर इधर कुछ वर्षों में उसका प्रचार बढ़ रहा है। चिन्ता की बात यह है कि व्यापारिक स्वार्थवश अण्डे को "शाकाहार" और "फलाहार" विज्ञापित करते व्यापक भ्रान्ति फैलाई जा रही है।

अण्डा शाकाहार नहीं है–

आज व्यापारिक-स्वार्थ वश जोर-शोर से यह प्रचार किया जा रहा है कि जो अण्डा फलीकरण के बिना प्राप्त होता है, मुर्गे के संयोग के बिना ही पैदा हुआ है, उसमें जीवन होना कतई सम्भव नहीं है। इसीलिए इसमें जीव की हिंसा नहीं होती। अतः इसे "अहिंसक" भी कह सकते हैं और "शाकाहारी" भी।

यदि प्राणि-विज्ञान और विशेषतः भ्रूण-विज्ञान के विशेषज्ञों की राय ली जाय तो निःसन्देह प्रमाणित होगा कि अण्डा फलीकरण से पैदा हुआ हो अथवा उसके वगैर, उसमें जीव तो अनिवार्य रूप से है। जीव के सारे लक्षण जैसे बढ़ना, सांस लेना, खुराक लेना आदि भी उसमें दिखायी देते हैं। और चूंकि वह मुर्गी के शरीर में पैदा होता है, अतः मांसाहार है।

कई वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि संसार का कोई अण्डा निर्जीव नहीं है, फिर चाहे वह निषेचित हो या अनिषेचित।

वस्तुतः अण्डे की उत्पत्ति बच्चे के सृजन के निमित्त होती है, मनुष्य की खुराक के लिए नहीं। अण्डे में हवा आने-जाने की नैसर्गिक व्यवस्था है। सफेद खोल के अन्दर बने सूक्ष्म छिद्रों से होकर ऑक्सीजन अन्दर जाती है और जरदी की भाप कार्बनडॉयक्साइड को बाहर फेंकती है। इससे अण्डे का भ्रूण जीवित रह कर विकास करता है। यही बात अनफर्टेलाइज्ड अण्डों पर भी लागू होती है। श्वासोच्छ्वास जीवन की निशानी है और जब भी यह अवरुद्ध होता है, अण्डा सड़ जाता है। वैज्ञानिक तमाम अण्डों में जीव मानते हैं। हर प्रकार से अण्डा गर्भरस है, अतः उसे शाकाहार के अंतर्गत गिनाना बहुत बड़ा धोखा है। यह अपने स्वार्थ के लिए फैलायी जाने वाली भयानक-भ्रान्ति है।

अण्डा हानिकारक भी है—

अण्डों में कोलेस्टोरोल की मात्रा इतनी अधिक होती है जिसके कारण दिल की बीमारी, उच्च-रक्तचाप, गुर्दों की बीमारी, पित्त की थैली में पथरी आदि रोग पैदा होते हैं। एक अण्डे में लगभग 4 ग्रेन कोलेस्टोरोल होता है। जब अण्डे खाये जाते हैं, तब खून में कोलेस्टोरोल की मात्रा बढ़ जाती है, जिसके कारण पित्ताशय में पथरी और दूसरी बीमारियां पैदा हो जाती हैं।

अण्डे में कैलशियम की कमी और कार्बोहाइड्रेट का अभाव होता है। इसी कारण ये बड़ी आंत में जाकर सड़न पैदा करता है।

त्वचा के अधिकांश रोगों का कारण, अण्डों का उत्पादन बढ़ाने के लिए मुर्गियों को दिया जाने वाला रसायनिक आहार है। पांच वर्ष से कम आयु के बच्चे को अण्डा देना जहर के समान है। इससे बच्चों की रोग प्रतिरोधी शक्ति कम हो जाती है और उन्हें लकवा मार जाने की सम्भावना बढ़ जाती है।

अण्डे में प्रोटीन की मात्रा अधिक होने का प्रचार केवल भ्रांति है। अण्डे में प्रोटीन की मात्रा सोयाबीन, मूंगफली, दूध आदि से प्राप्त प्रोटीन की तुलना में बहुत कम है और वह निम्न स्तर का है।

मदिरा में असंख्य त्रस-जीवों की साक्षात् हिंसा होती है। पदार्थों को सड़ाये बिना मदिरा का निर्माण प्रायः नहीं होता। इसका निषेध करने का एक कारण और है कि इसके साथ अन्य अनेक मानसिक विकार और दुर्गुण भी मनुष्य में आ जाते हैं। अहंकार, भीति, घृणा, सनक, शोक, कामवासना और क्रोध आदि सारे विकार हिंसा की ही पर्याय हैं। वे सब मदिरा के पड़ोसी हैं। सदा उसके साथ ही रहते हैं—

अभिमान-भय-जुगुप्सा हास्य-अरति-शोक-काम-कोपाद्या,
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरक-सन्निहिताः ।

—अमृतचन्द्रस्वामी/पुरुषार्थ-सिद्धि उपाय/44

मधु के उत्पादन में मधु-मक्खियों की हिंसा होती है और मधु उन मक्खियों का उच्छिष्ट मल कहा जाता है, इसलिए मधु को भी अभक्ष्य माना गया है।

सूर्यास्त के बाद अनेक प्रकार के सूक्ष्म जीव वातावरण में संचरण करने लगते हैं। प्राकृतिक प्रकाश के अभाव में भोजन को पूरी तरह शोधना संभव नहीं होता। देर रात्रि में भोजन करने से शरीर को पूरा आराम भी नहीं मिल पाता। जीवन मात्र खाने-पीने के लिये नहीं है। जीने के लिये खाना है। इसलिए भी भोजन-पान की व्यवस्था संयमित और सीमित होनी चाहिए। यह नियंत्रण स्वास्थ्य की दृष्टि से भी हितकर है। इन्हीं सब कारणों से रात्रि भोजन का निषेध किया गया है।

इस प्रकार पंच-अणुव्रत की पालना के साथ मद्य-मांस-मधु के त्याग को "अष्ट-मूलगुण" कहा गया हैं। संतों का यह परामर्श है कि मानव-जीवन का सही लाभ लेने के लिये ये आठ मूलगुण हम सबके आचरण में होने ही चाहिए। इनके बिना अहिंसा-अणुव्रत का निर्वाह संभव नहीं है।

पाप का प्रवेश

हमारे जीवन में एक सौ आठ द्वारों से पाप का प्रवेश होता है। हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील-परिग्रह, पांचों पापों में यह गणित बिठा लेना चाहिये।

क्रोध, मान, माया और लोभ, : ये चार कषाय भाव हैं।
मन, वाणी और शरीर : ये तीन साधन हैं।
समरम्भ, समारम्भ और आरम्भ : ये तीन उपाय हैं और
कृत, कारित और अनुमोदना : ये तीन प्रकार प्रकार हैं।
पापास्रव के यही (4×3×3×3×1=108) एक सौ आठ भेद हैं।

शायद इसीलिये प्रभु-नाम जपने की माला में एक सौ आठ मनके होते हैं ताकि माला फेरते समय हम यह भावना करें कि– "एक सौ आठ प्रकार से आज मुझसे जो भी पाप हुआ हो, मैं उसका प्रायश्चित्त करता हूं और संकल्प करता हूं कि पापास्रव के ये एक सौ आठ द्वार मुझे अपने जीवन में रुद्ध करने हैं।"

क्या अनिवार्य हैं ये सारे द्वार–

यह प्रश्न उठता है कि कोई पाप-भावना जब मन में उदित होती है तब क्या यह अनिवार्य है कि उसके लिये ये सब द्वार खुल जायें? क्या उस विष-बेल को इतना फैलने से रोका नहीं जा सकता? क्या है उसका उपाय?

यह फैलाव बिलकुल अनिवार्य नहीं है। यह तो हमारी पाप-प्रियता के कारण, या असावधानी के कारण होता है। साधक तो संस्कारों में से उपजती पाप-भावनाओं को, उनके अहितकर स्वभाव का चिन्तन करके, वहीं मन में ही उनका शमन कर देता है। या फिर प्रभु-नाम का सहारा लेकर मन को अन्यत्र एकाग्र करना चाहता है। संतों का मन इतना निर्मल हो जाता है कि उसमें प्रायः पाप-भावनाओं का उदय होता ही नहीं।

जब कर्म के उदय से, या संस्कार-वश, मन में विकार उत्पन्न हो, तब यदि हम होशो-हवाश में हों, हमारा विवेक जाग्रत हो, तो उस पाप-वृत्ति पर अंकुश लगाया जा सकता है। विकारी मन के पीछे सक्रिय होने वाले वचन और देह को तो रोका ही जा सकता है। यद्यपि पाप का विमोचन मन की पवित्रता के बिना नहीं होता। वाणी की बनावटी पवित्रता और देह के वेष का तब तक विशेष महत्व नहीं है जब तक मन निष्पाप न हो। किसी कवि ने कहा है– "भाई, वेष बदलने से क्या होगा? पाप तो मन से गया नहीं। साँप केंचुली छोड़ भी दे तो उसके शरीर का विष तो नहीं छूटता?–

वेष तज्या तो क्या तज्या, राग तज्या नहिं वीर,
साँप तजै ज्यों केंचुली, विष नहिं तजत शरीर ।

लेकिन नहीं, एक दृष्टिकोण और भी है। मन के विकारी होने पर यदि वचन और काय उसका साथ न दें तो विकार का अधिक फैलाव नहीं होगा। उससे मन को भी सीख मिलेगी। वह रास्ते पर आ जायेगा। किसी ने कहा– "मन यदि वर्जित दिशाओं में जाता है तो जाने दें। भाई शरीर, तू तो उसके पीछे मत दौड़। यदि तू साथ नहीं देगा तो मन कर क्या लेगा? वाण कितना ही विषहरा क्यों न हो, धनुष पर कमान ही न चढ़ाई गई हो तो वाण क्या करेगा?–

मन जाता तो जान दै, तू मत जाय शरीर,
उतरी धरी कमान तो, कहा करैगो तीर ।

मार्ग यही है कि जैसे बने तैसे पाप-भावना के फैलाव को रोकने का प्रयत्न करना चाहिये। उसे साकार होने से रोकना चाहिये। उसके विस्तार से होने वाले निज और पर के विनाश को बरकाने की कोशिश करना चाहिये। मन भागता हो तो उसे दण्डित करना चाहिये। तन बेकाबू होता हो तो उसे पाठ पढ़ाना चाहिये। पाप से बचने का उपाय तो यही है।

यहां मुझे संन्यास की "त्रि-दण्ड व्यवस्था" का स्मरण आता है। मन-वचन-काय को अनुशासित करने के लिए इस व्यवस्था का उपदेश संतों ने किया था। उन्होंने कहा था–

मन का दण्ड है– प्राणायाम। उसका नियमित अभ्यास करना।
वचन का दण्ड है– मौन। निरंतर उसे धारण करना।
देह का दण्ड है– निष्काम-कर्म। उसकी साधना करना।

इस व्यवस्था का प्रतीक "दण्ड" तो बहुत हाथों में देखता हूं, परन्तु उसका वास्तविक अभिप्राय सधता हो यह कभी-कभार ही देखने को मिलता है।

ऐसे भी मानता है मन–

कुछ मित्र नर्मदा किनारे पिकनिक मना रहे थे। सामने पेड़ के नीचे एक बटोही कण्डों की आँच पर बाटियां सेंक रहा था। कुल तीन टिक्कड़ उसने बनाये। न घी, न दाल, न तरकारी। फिर वह उठकर

पानी लेने नर्मदा में उतर गया और कमण्डल भरकर लौट आया। परन्तु यह क्या? जतन से सेंकी हुई बाटियां उसने तोड़-तोड़ कर नर्मदा को अर्पित कर दीं। दो मुट्ठी राख पानी में घोली और पी गया। अपनी झोरी उठाई और आगे बढ़ चला।

पिकनिक-मण्डली में से किसी ने उसे रोक लिया। "बाबा, आपने यह क्या किया? बाटियां बनाई थीं तो खाई क्यों नहीं? खाना नहीं थीं तो बनाई क्यों? बात अटपटी लगती है। समझाकर जाइये।"

यात्री ने अपनी मनोवेदना शब्दों में बाँध दी– "भैया, नर्मदा माई की परिक्रमा पर निकला हूं। भिक्षाटन से पेट भरने का संकल्प है। पर्याप्त मिल जाता है। यात्रा भी समाप्ति पर ही है। मगर यह मन तीन दिनों से रोटी की रट लगाये था। चना-चबैना से इसे तृप्ति नहीं। रोटी चाहिये। उसी का स्मरण, उसी का कीर्तन। कल तो माई के दर्शन में भी मुदित नहीं हुआ। कीर्तन में भी भटकता ही रहा। रोटी चाहिये थी इसे। आज पहली बार भिक्षा में मुंह खोलकर आटा मांगा। कहीं नमक की याचना की। कण्डे बटोरे। पत्थर पर गूंध कर बाटियां सेंकीं। फिर खाने के पहले पानी लेने गया। दोपहर की धूप में नर्मदा माई की चमकती लहरों ने आंखों को भरमा लिया। बड़ी ठण्डक मिल रही थी।"

–"मगर यह मरभुखा मन, बाटियों में रखा था। कहीं कौवा न ले जाय। कोई कुत्ता न आ जाये। एक बार तो इस पापी ने यह भी शंका कर ली कि कहीं आप लोग ही न उठा लें इसका छप्पन-भोग।"

–"परिक्रमा में जो माई का दर्शन भी न करने दे, वह मीत नहीं। वह तो मेरा बैरी हुआ। सोच लिया फिर, आज इस बैरी को मजा चखाना ही चाहिये। बाटियां खिला दीं मछलियों को और इसे पिला दी उन्हीं कण्डों की राख। अब कल एकादसी है, निर्जला रहूंगा। ऐसे ही मानेगा यह निर्लज्ज। यही है इसका इलाज।"

तो फिर यह जरूरी नहीं कि पापास्रव के सभी एक सौ आठ दरवाजे हर बार खुलें। हम सावधान हों तो उनमें से अधिकांश को तो सरलता से बंद रख सकते हैं। पाप का भार उतना हल्का तो हो ही जायेगा। उनसे मुक्ति पाने का अभ्यास इसी प्रकार तो होगा। मन के हर इशारे पर नाचना जरूरी तो नहीं। जो विकार विचार में आ गया वह क्रिया में आना ही चाहिये ऐसा क्यों? पाप तो जहर की लहर है। जहां

उसे रोका जा सके वहीं रोकने का प्रयत्न करना चाहिये। जितना रोका जा सके उतना तो रोकना ही चाहिये।

सोचने से नहीं बच पाये तो करने से बचिये।

कर ही डाला है तो आगे नहीं करने का संकल्प लीजिये।

स्वयं नहीं तो दूसरों से मत कराइये। वे भी दण्डित होंगे।

पाप की अनुशंसा करके उसे प्रोत्साहित मत कीजिये। अनुमोदना से तो बचिये।

जीवन को निष्पाप बनाने के यही उपाय हैं। एक दिन में यह सब नहीं होगा। अनादि के संस्कार हैं। धीरे-धीरे जायेंगे।

इसी का नाम साधना है।

हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील और परिग्रह, ये मानव जीवन को पतन की ओर ले जाने वाले पाप हैं। पाप मुक्त होने का एक क्रम है। पहले नियम लेकर उनका आंशिक त्याग करना होगा। यह नियम "अणुव्रत" कहलाते हैं। बाद में साधना की ऊँचाइयों को छूने के लिये इन्हीं पापों का सर्वथा त्याग होता है जिसे "महाव्रत" कहते हैं। यहां अणुव्रतों की व्याख्या करेंगे।

□

पंच अणुव्रत

अहिंसा अणुव्रत

अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्यऔर अपरिग्रह, इन पाँच व्रतों में अहिंसा ही प्रमुख है। वही साध्य है, शेष चारों उसके साधक हैं। फसल की रक्षा के लिये जैसे खेत के चारों ओर बाड़ लगा देते हैं, उसी प्रकार सत्य-अचौर्य आदि सभी व्रत अहिंसा की रक्षा के लिये ही हैं।

राग-द्वेष की पूर्ति के लिये, संकल्प करके किसी प्राणी को पीड़ा पहुँचाने, या उसका प्राण घात करने को हिंसा कहा गया है। इस हिंसा का स्थूल-त्याग ''अहिंसा-अणुव्रत'' है।

अपने कर्तव्यों और दायित्वों का निर्वाह करने के लिए, या मौलिक अधिकारों का उपभोग करने के लिये जो आरम्भी, और उद्योगी-हिंसा करनी पड़ती है उसमें व्यक्ति की ''स्वतंत्र-इच्छा'' नहीं होती। वहाँ व्यक्ति की इच्छा अपनी अजीविका चलाने की है। अपने जीवन-निर्वाह की है।

इसे यों भी कह सकते हैं कि आरम्भ और उद्योग कार्यों में हिंसा व्यक्ति की मजबूरी है। वह उसका लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य की प्राप्ति में कुछ हिंसा उससे हो जाती है। इन दोनों प्रकार की हिंसा की छूट दिये बिना गृहस्थ आश्रम चल नहीं सकता।

विरोधी-हिंसा की छूट पाये बिना भी गृहस्थ सम्मान-पूर्वक अपना जीवन-निवार्ह नहीं कर सकता। वह अपने आश्रित जनों के प्रति, अपने समाज और देश के प्रति, तथा धर्म और धार्मिक स्थानों एवं साधु-सन्तों आदि के प्रति अपना कर्तव्य-पालन नहीं कर सकता। इसके बिना शासन तथा न्याय की व्यवस्था भी नहीं बन सकती। यहाँ इतना अवश्य ध्यान रखना होगा कि विरोधी-हिंसा का प्रसंग आने पर आत्मरक्षा और नीति ही उसका लक्ष्य होना चाहिये। हिंसा उसका प्रमुख लक्ष्य नहीं होगा।

अहिंसा-अणुव्रत में संकल्पी-हिंसा का सम्पूर्ण त्याग कराकर यत्नाचार पूर्वक एक सम्पूर्ण और सात्विक-जीवन जीने का परामर्श दिया गया है।

अतिचार और भावनाएं –

प्रत्येक व्रत के निर्वाह के लिये सावधानी की आवश्यकता होती है। कुछ ऐसे कार्य होते हैं जो सामान्यतः पाप नहीं दिखाई देते, परन्तु यदि वे कार्य निरन्तर होते रहें तो व्रत में दूषण भी लगता है और व्रत खण्डित होने की आशंका भी बनी रहती है। ऐसे कार्य अतिचार कहे गए हैं।

संतों ने कुछ ऐसी भावनाएं भी बताई हैं जिन्हें ध्यान में रखने पर त्याग का संकल्प दृढ़ होता जाता है। अतः साधक को अतिचारों से बचने और व्रत की समर्थक-भावनाओं का चिन्तन करने का परामर्श दिया गया है।

अच्छी फसल पाने के लिये सिर्फ बीज बो देना पर्याप्त नहीं है। उसके साथ उगने वाले घास और खर-पतवार की निड़ाई-गुड़ाई करनी पड़ती है, और फसल को सींचना पड़ता है, तब वास्तविक लाभ होता है। इसी प्रकार साधना के लिये व्रत धारण कर लेना भर पर्याप्त नहीं है। व्रत में लगने वाले दोषों से बचने के लिये उस व्रत के अतिचारों से बचना बहुत आवश्यक है। त्याग को पुष्ट करने वाली भावनायें भी व्रत की स्थिरता में सहायक होती हैं। अतः प्रत्येक व्रत को भावना-पूर्वक, अतिचार-रहित, सावधानी से पालन करना चाहिए।

अहिंसा अणु-व्रत के पाँच अतिचार हैं, छेदन, बन्धन, पीड़न, अतिभारारोपण और आहार-वारणा।

1. दुर्भावना से कान-नाक आदि अंगों का छेद तथा नकेल और कटीली-लगाम आदि कष्ट पहुँचाने वाले प्रयोग "छेदन" हैं।
2. दुर्भावनावश किसी के वचन और शरीर की प्रवृत्तियों पर बंधन लगाना तथा रस्सी-जंजीर आदि के द्वारा किसी को बाँधकर रखना "बंधन" है।
3. डण्डा, बेंत-चाबुक आदि से घात करके शरीर को पीड़ा पहुँचाना तथा कठोर और अपमानित करने वाले शब्दों से किसी को दुख पहुँचाना "पीड़न" है।
4. दुर्भाव या लोभवश किसी पर उसकी शक्ति से अधिक भार डालना "अति भारारोपण" है। यह अतिचार बोझा ढोने तक

सीमित नहीं है। किसी पर न्याय-नीति और नियम-विरुद्ध अनुचित कर-भार, दण्ड-भार तथा कार्य-भार अति भारारोपण हो है।

5. दुर्भावनावश अपने आश्रितों के अन्न-पान का निरोध करना। उन्हें जान बूझ कर भूखा-प्यासा रखना। समय पर उनके लिये भोजन-पानी की पर्याप्त व्यवस्था नहीं करना "आहार-वारणा" है।

यहाँ दुर्भावना पूर्वक अन्न-पान के निरोध को अतिचार बताया गया है। भय दिखाने के लिये किसी आश्रित को भले ही कुछ कह लिया जाये, परन्तु समय पर उसे भोजन अवश्य देना चाहिये। रोग-शमन के लिये भूखा रखना, लंघन आदि कराना, तथा शान्ति के लिये उपवास आदि करना अतिचार की परिभाषा में नहीं हैं।

अहिंसा-अणुव्रत के पोषण के लिये पाँच भावनाएँ बताई गई हैं—

मन को नियंत्रित करना, उसे विषय-वासनाओं की ओर नहीं जाने देना "मनगुप्ति" है। वचन के द्वारा अनर्गल या निरर्थक प्रलाप नहीं करना, विसंवाद उपजानेवाली या चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने वाली चर्चा से बचना, "वचनगुप्ति" है। उठते-बैठते, तथा चलते-फिरते समय जीव-हिंसा से बचते हुए यत्नाचार-पूर्वक प्रवृत्ति करना "ईर्या-समिति" है। सावधानी-पूर्वक वस्तुओं का उठाना-रखना और जीव-घात को बचाकर उनका व्यवहार करना "आदान-निक्षेपण समिति" है। भोजन-पान बहुत पवित्रता से सोधकर, उचित समय के भीतर ग्रहण कर लेना, शुद्ध सात्विक शाकाहारी भोजन करना और रात्रि भोजन का त्याग करके दिन रहते ही भोजन कर लेना, "आलोकित-पान-भोजन समिति" है।

सत्य-अणुव्रत

सत्य और अहिंसा का ऐसा घनिष्ट सम्बंध है कि एक के अभाव में दूसरे की आराधना सम्भव ही नहीं है। ये दोनों परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। अहिंसा यथार्थ को सौन्दर्य प्रदान करती है, और यथार्थ अहिंसा को सुरक्षा देता है। अहिंसा-रहित सत्य कुरूप है, और सत्य-रहित अहिंसा क्षणस्थायी है, असुरक्षित है। इसलिये अहिंसा के आराधक को सत्य की

उपासना अनिवार्य है। गृहस्थ-जीवन में असत्य का सम्पूर्ण त्याग नहीं किया जा सकता है, अतः स्थूल-झूठ का त्याग ही सत्य-अणुव्रत का अभिप्राय है। सत्य के तीन अन्वय कहे गये हैं, हित, मित और प्रिय।

सत्य-अणुव्रत में जिस झूठ का त्याग कराया गया है, अथवा जिस सत्य के प्रयोग की अनुशंसा की गई है, वह लोक-हित और अहिंसा का साधक है। इसलिए इस व्रत की परिभाषा में हितकर होना सत्य की पहली शर्त है। उसका मित होना, संक्षिप्त होना इसलिए आवश्यक है कि इससे यह तत्काल ग्राहय होता है। वह प्रिय भी हो ऐसा इसलिए जरूरी है कि इसके बिना उसे दूसरों तक पहुंचाना सम्भव नहीं है। अतः यह अनिवार्य है कि सत्य को हित, मित और प्रिय होना चाहिये।

द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा की तरह असत्य और सत्य के भी भेद किये जा सकते हैं। वाणी को अभिप्राय से तौल कर ही उसे सच या झूठ के वर्ग में रखा जा सकता है।

एक संत किसी वृक्ष के नीचे ध्यान कर रहे थे। जब वे वहां से उठने को हुए तभी एक हिरण चौकड़ी भरता उनके सामने से निकल गया। पीछे ही दौड़ता हुआ शिकारी आ पहुंचा। उसने विपरीत दिशा की ओर हाथ उठा कर पूछा—"महात्मा जी, क्या हिरण इसी ओर गया है ?"

यद्यपि हिरण उस दिशा में नहीं गया था और जिस ओर वह गया था वह संत जानते थे, परन्तु यहां एक प्राणी के जीवन-मरण का प्रश्न था। यदि वे वास्तविकता बता देते हैं तो हिरण के मारे जाने की आशंका है। यदि वे शिकारी के अनुमान का समर्थन कर देते हैं तो शिकारी उसी दिशा में भागेगा और मृग के प्राण बचने की सम्भावना बढ़ जायेगी।

समय का सत्य और हित-प्रेरित सत्य यही था कि यहां यथार्थ को उजागर न किया जाये और शिकारी के विपरीत अनुमान को सही बताया जाये। संत ने वही किया और शिकारी उस दिशा की ओर चला गया। सत्य-अणुव्रत का यही प्रयोजन है।

सत्य-अणुव्रत के पांच आतिचार हैं — परिवाद, रहोभ्याख्या, पैशून्य, कूटलेख-क्रिया, और न्यासापहार।

किसी की निन्दा करना और किसी के साथ गाली-गलौज करना। वचनों के माध्यम से किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र में संक्लेश अथवा अशान्ति के बीज बोना "परिवाद" है।

किसी के किसी रहस्य को उजागर करना। गोपनीयता भंग करना। देश की रक्षा, उद्योग तथा अर्थ व्यवस्था आदि की महत्वपूर्ण सूचनाएं, प्रलोलभन वश या दुर्भावना वश किसी को पहुंचा देना। यह सब "रहोभ्याख्या" है।

चुगली करना। दो पक्षों को परस्पर में लड़वाने के लिये उनकी बातें बढ़ा-चढ़ा कर दूसरे पक्ष तक पहुंचाना। किसी के पीठ पीछे उसकी बुराई करना "पैशून्य" है।

नकली दस्तावेज तैयार करके किसी को धोखा देना, या ठगने का प्रयास करना। किसी के जाली हस्ताक्षर बनाना। किसी को लिखावट में दुर्भावना पूर्वक मिलावट या काट-छांट करना। प्राचीन ग्रन्थों से ऐसे पद-वाक्य निकाल देना या जोड़ देना जिनसे उनका वास्तविक अभिप्राय दूषित होता हो। समाज में भ्रान्ति या अशान्ति फैलाने वाली कल्पित घटनाओं या मन-गढ़ंत समाचारों का प्रचार-प्रसार करना। प्रतिहिंसा की भावना भड़काने वाली अफवाहें फैलाना। झूठी गवाही देना। अपनी बात मे मुकर जाना आदि सभी "कूटलेख-क्रिया" है।

किसी की धरोहर हड़प लेना, अमानत में खयानत करना। श्रमिकों को नियमानुकूल भुगतान नहीं करना। भागीदारी में खोटी नियत करना, या ट्रस्टीशिप के नियमों का उल्लंघन करना "न्यायासापहार" है।

सत्य-अणुव्रत के निर्दोष पालन के लिये तथा व्रत में उत्तरोत्तर निर्मलता लाने के लिये इन पांच अतिचारों से बचना चाहिये।

असत्य का प्रयोग क्रोध-लोभ-भय और हास्य के निमित्त से ही प्रायः किया जाता है। इसलिए क्रोध और लोभ को नियंत्रित करना, भय का त्याग कर आत्म विश्वास पूर्वक, निर्भीक जीवन बितांना और भोंडे-अश्लील हास्य से बचना, यही सत्य-अणुव्रत की पांच भावनायें हैं।

अचौर्य-अणुव्रत

चोरी भी हिंसा का ही एक रूप है। जब किसी की कोई वस्तु चोरी चली जाती है, या कोई कहीं ठगाया जाता है, तब उसके परिणाम संक्लेशित होते हैं। उसे मानसिक पीड़ा होती है और भौतिक कष्ट भी उठाने पड़ते हैं। अतः जब तक चोरी का त्याग न हो तब तक अहिंसा का

पालन नहीं हो सकता। चोरी छोड़े बिना सत्य के निर्वाह की भी कोई सम्भावना नहीं है।

जिस पर अपना अधिकार नहीं है ऐसी किसी भी वस्तु को बिना अनुमति प्राप्त करना, या प्राप्त करने की चेष्टा करना, चोरी है। दूसरे को ठगना और छल-कपट के द्वारा दूसरे का द्रव्य अपनी जेब में डालने के सारे अनैतिक काम चोरी ही हैं। चोरी का स्थूल-त्याग तीसरा "अचौर्य-अणुव्रत" है।

अचौर्य-अणुव्रत के पांच अतिचार हैं—चौर-प्रयोग, चौरार्थ-आदान, विलोप, प्रतिरूपक-व्यवहार और हीनाधिक-विनिमान।

1. तरह-तरह के उपाय बताकर चोरी की प्रवृत्ति में सहायक होना। स्वयं चोरी की योजना बनाना और दूसरों के द्वारा चोरी का प्रयास कराना। चोरी की प्रशंसा-अनुमोदना करना "चौर-प्रयोग" हैं।
2. जानबूझकर चोरी का माल खरीदना, गिरवी रखना या छिपाना। चोरी के साधन किसी को उपलव्ध कराना या उनका व्यापार करना। चोरों-डाकुओं के साथ आर्थिक सम्बंध रखना, उन्हें संरक्षण देना और सूचनाएं आदि देकर लूट-पाट में सहायक होना "चौरार्थ-आदान" है।
3. किसी की स्थावर या जंगम, चेतन या अचेतन सम्पत्ति छीन लेना या नष्ट कर देना। भूमि या भवन पर अवैध कब्जा कर लेना। सार्वजनिक अथवा शासकीय भूमि, वन-उपवन-तालाव आदि पर अतिक्रमण करके अधिकार जमा लेना। कहीं आग लगाकर, कहीं व्रम फोड़कर और कहीं तेजाव छिड़क कर दूसरे को हानि पहुंचाना। घूस लेना या घूसखोरी को बढ़ावा देना। ये सारी क्रियाए "विलोप" हैं।
4. दूसरों को ठगने या अनुचित लाभ कमाने के अभिप्राय से मूल्यवान वस्तुओं में सस्ते पदार्थो की मिलावट करना। नकली वस्तुओं को असली बताना। नकली दवाओं, या जिनकी अवधि समाप्त हो चुकी है ऐसी दवाओं का व्यापार करना। अशुद्ध को शुद्ध तथा अपवित्र को पवित्र बताकर बेचना आदि क्रियायें "प्रतिरूपक-व्यवहार" हैं।
5. गैलन-लिटर आदि माप है और किलो-तोला-ग्राम आदि तौल है।

माप-तौल के साधन बाट आदि कमती-बढ़ती रखकर व्यापार में अधिक लेने और कम देने की नीयत रखना। यात्रा में निषिद्ध सामान लेकर चलना अथवा बिना टिकिट या अपर्याप्त टिकिट पर यात्रा करना। किसी प्रकार की कर-चोरी और हिसाब की हेरा-फेरी आदि सब प्रतिरूपक-विनिमान नाम का पांचवां अतिचार है।

इस व्रत में दृढ़ता लाने के लिये नीति-पूर्वक कमाये गये द्रव्य से अपनी आय के भीतर ही आजीविका चलाने का संकल्प आवश्यक है। जहां आय से अधिक व्यय करने की आदत होगी वहां नियम से नीति-विरुद्ध कमाई घर में आएगी। ऐसे अपवित्र धन के उपयोग से परिवार में व्यसन, कलह और अशान्ति उत्पन्न होगी। जीवन इतना आकुलता-ग्रस्त हो जायेगा कि किसी नियम-व्रत आदि के लिये कहीं अवकाश ही नहीं होगा।

ब्रह्मचर्य-अणुव्रत

वासना का शमन करने का वास्तविक उपाय तो ब्रह्मचर्य ही है। भोगों के माध्यम से वासना की क्षणिक-तृप्ति हो जाती है परन्तु उनका अभाव नहीं होता। वह दूने वेग से पुनः पुनः उभरती है।

प्रारम्भिक दशा में साधक में इतनी सामर्थ्य नहीं होती कि वह ब्रह्मचर्य-महाव्रत का पालन कर सकें, अतः उसके लिये "स्वदार-संतोषव्रत" बताया गया है। दम्पति एक दूसरे में संतुष्ट और प्रसन्न रहें, दाम्पत्य की मर्यादा के बाहर आकर्षण का अनुभव न करें, गृहस्थों के लिए यही "ब्रह्मचर्य-अणुव्रत" है।

स्वदार-संतोष व्रत गृहस्थों का धर्म है। यह गार्हस्थिक सुख-शान्ति का रहस्य है। पुरुष के लिए एक ही पत्नी और स्त्री के लिये एक ही पति की मर्यादा हर प्रकार से उचित, न्याय-संगत और निरापद सिद्ध हुई है।

ब्रह्मचर्य-अणुव्रत की धारणाओं के विपरीत, गृहस्थी में जहां दो के बीच किसी तीसरे को लेकर कोई त्रिकोण बनता है, वहीं दाम्पत्य की सारी गरिमा खण्डित हो जाती है। विश्वास टूट जाते हैं और तनाव बढ़

जाते हैं। अशान्ति का वातावरण पूरे परिवार को प्रदूषित कर देता है। जीवन का एक पल भी सहज नहीं रह जाता। घर में "आठ पहर का जूझना, बिन खांडे संग्राम" छिड़ा रहता है। तब शरीर भले ही एक छत के नीचे बने रहें, परन्तु मन अलग-अलग दिशाओं में चल निकलते हैं। जिस गृहस्थी को प्यार की तुष्टि से महकना चाहिये था, वह असंतोष का आंच में दहकने लगती है। एक मित्र ने इस दुर्भाग्यपूर्ण बिडम्बना को इन शब्दों में कहा था—

यह विसंगति जिन्दगी के द्वार सौ सौ बार रोई,
बांह में है और कोई, चाह में है और कोई।

दूसरे भी भोगते हैं इसकी पीड़ा

सबसे अधिक अप्रिय तथ्य यह है कि जहां हिंसा-झूठ चोरी और परिग्रह जैसे पाप व्यक्ति के स्वयं के जीवन को कलंकित या दूषित करते हैं, वहां व्यभिचार का पाप पूरे परिवार को कुण्ठाओं और पीड़ाओं के गर्त में ढकेल देता है। खण्डित-दाम्पत्य के बीच सुकुमार-मति निर्दोष संतान की जो दुर्दशा होती है; उसके उदाहरण हम सबने कहीं न कहीं देखे हैं। उन वेगुनाह बच्चों को अपने ही माता-पिता की नादानी का जो दुखद परिणाम भोगना पड़ता है उसे देखकर, कौन है जो संवेदना से द्रवित नहीं हो उठेगा ? दरकते हुए दाम्पत्य में दोनों के परिवारजन, मां-बाप, और भाई-बहिन जिस मानसिक वेदना की अनुभूति करते हैं, उसकी कल्पना भी दुखद है। अपनी सुख-शान्ति का विनाश करने के साथ-साथ इतने लोगों को, इतनी पीड़ा पहुंचाना क्या हिंसा नहीं है ?

शायद इसलिये संयत आचार-विचार की परिभाषा करते हुए प्राय: सभी विचारकों ने निष्ठापूर्ण दाम्पत्य पर विशेष जोर दिया है। ब्रह्मचर्य-अणुव्रत को अहिंसा का साधक माना है। यदि जीवन में यह संकल्प साकार नहीं हो तो पाप-त्याग के अन्य सकंल्प निभ सकेंगे इसमें वहुत संदेह है।

इस व्रत को दूषित करने वाले पांच अतिचार कहे गये हैं—अन्यविवाह आकरण, अनंग-क्रीड़ा, विटत्व, तीव्र कामाभिनिवेश और इत्वरिकागमन।

1. दूसरों के विवाह कराने का व्यवसाय करना। दिन-रात उसी

चिन्तन में संलग्न रहना, तथा एक पत्नी के रहते दूसरा विवाह करना "अन्यविवाह-आकरण" है।

2. वासना-प्रधान चित्र, चलचित्र आदि देखना तथा अप्राकृतिक, विकृत और उच्छृंखल यौनाचार में रुचि रखना "अनंग-क्रीड़ा" है।

3. काम-संबंधी निम्न-स्तर के मनोरंजन में रुचि लेना। शरीर और वाणी से भांडपने की कुचेष्टायें करना। उत्तेजक और अश्लील साहित्य तथा कैसेट आदि का उपयोग करना, उसे रखना, उसका व्यापार करना और अन्य प्रकार से उसके प्रचार में सहायक होना "विटत्व" है।

4. काम की तीव्र लालसा रखना। निरंतर उसी के चिन्तन में लगे रहना। कामोत्तेजक निमित्तों की संयोजना करना "तीव्र-कामाभिनिवेश" है।

5. चरित्र-हीन स्त्री-पुरुषों की संगति में रहना। पत्नी का चरित्र आदि दूषित हो गया हो, तथा पति यदि व्यभिचारी हो गया हो तब भी उसके साथ दाम्पत्य-सम्बंध बनाये रखना "इत्वरिका-गमन" है।

साधक को विशेष आसक्ति छोड़कर, चित्त के विकार को शमन करने के अभिप्राय से, आहार सेवन के समान ही, मर्यादित काम सेवन करना चाहिये। जैसे किसी भी परिस्थिति में एक सीमा से अधिक भोजन उदरस्थ नहीं किया जा सकता, ऐसा ही विवेक उसे वासना के सम्बन्ध में रखना चाहिये। तीव्र अभिनिवेश के कारण शरीर की शक्ति क्षीण होती है, उसमें रोग उत्पन्न होते हैं और संकल्प की दृढ़ता खण्डित होती है। इससे मन की एकाग्रता भी प्रभावित होती है।

ब्रह्मचर्य-अणुव्रत के संकल्प को पुष्ट करने के लिये कुछ भावनाएं हैं—

— काम विकार उत्पन्न करने वाला अश्लील साहित्य नहीं पढ़ना।
— इस विषय की चर्चा-वार्ता का त्याग करना।
— महिलाओं की ओर विकारी दृष्टि से नहीं देखना।
— पूर्वकाल में भोगे हुए भोग-विलास का स्मरण नहीं करना।
— इन्द्रिय-लालसा उपजाने वाले कामोद्दीपक पदार्थों का सेवन नहीं करना।

— शरीर का विलासिता पूर्ण श्रृंगार नहीं करना।
— अंग-प्रदर्शन करने वाले वस्त्र-आभूषण नहीं पहनना।

परिग्रह परिमाण-अणुव्रत

परिग्रह की तृष्णा को अपने लिये अहितकर समझकर अंतरंग और बहिरंग सभी प्रकार के परिग्रहों से ममत्व-भाव हटाना, परिग्रह का भार कम करने के उपाय करना और अपनी आवश्यकता के अनुरूप उनकी सीमा निर्धारित करके, उससे अधिक संग्रह का त्याग कर देना, यही ''परिग्रह परिणाम-अणुव्रत'' की परिभाषा है। यह अपनी अंतहीन इच्छाओं को सीमित करने का कौशल है अतः इसका दूसरा नाम ''इच्छा-परिमाण व्रत'' भी है।

परिग्रह के प्रकार

परिग्रह चौबीस प्रकार का कहा गया है। चौदह अंतरंग और दस बाह्य। मिथ्यात्व या अविद्या, क्रोध-मान-माया और लोभ, हास्य-रति-अरति-भय-जुगुप्सा और शोक, तथा स्त्री-पुरुष और नपुंसक वेद संबंधी वासना, यह चौदह प्रकार का अंतरंग परिग्रह है। दूसरे शब्दों में ऐसा कह सकते हैं कि चेतना में उठने वाली विकार की सभी तरंगें अंतरग परिग्रह हैं। कामनाओं का ही दूसरा नाम है अंतरंग परिग्रह।

वाह्य परिग्रह के दस भेद हैं—क्षेत्र-वास्तु, धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद, शयनासन-यान, कुप्य और भाण्ड।

इन सब अंतरंग और बहिरंग परिग्रहों में, अपनी शक्ति, परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार सीमा बांध कर उनके वाहर जो अनन्त पदार्थ हैं उन सबका मन-वचन और काय से त्याग कर देना ''परिग्रह परिमाण-अणुव्रत'' है।

परिग्रह-परिमाण व्रत का दूसरा नाम ''इच्छा-परिमाण व्रत'' है। इच्छाओं का विस्तार असीम है। यदि उन्हें सीमित न किया जाये तो इच्छाएं मानव को दानव के समान भयावह और विवेकहीन बना देती हैं।

मनुष्य जब अपनी इच्छाओं के अधीन हो जाता है तब वह चाहता है कि सबसे अधिक सुख-सुविधाएं और साधन उसी के पास हों। सारा वैभव, यश और खुशियां उसे ही मिलती रहें। मजे की बात यह है कि जैसे-जैसे इच्छाओं की पूर्ति होती है, वैसे ही वैसे उनका दायरा बढ़ता जाता है। तृष्णा की यही विशेषता है कि वह कभी समाप्त नहीं होती। वह ऐसी आग है जो बुझना जानती ही नहीं।

आज समाज में जो शोषण-वृत्ति, अविश्वास, ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट, दुख-दारिद्रय, लूट-मार और शोक-संताप ऊपर से नीचे तक व्याप रहे हैं, उनका प्रमुख कारण परिग्रह-वृत्ति, जमाखोरी, मुनाफाखोरी या संग्रह की भावना ही है। परिग्रह-वृत्ति हिंसा का मूल कारण है। इससे बचना या इस पर नियंत्रण रखना ही हितकर है, इसीलिये गृहस्थ श्रावक को इच्छा-परिमाण व्रत का परामर्श दिया गया है।

भाव-हिंसा और द्रव्य-हिंसा की तरह परिग्रह में भी ये भेद करना चाहिए। पदार्थों के साथ मन में लगाव रखना, उनसे व्यामोह की मूर्च्छा में खो जाना ''भाव-परिग्रह'' है। मनचाही वस्तुओं का स्वामित्व प्राप्त कर लेना, उन पर काबिज हो जाना ''द्रव्य परिग्रह'' या भौतिक परिग्रह है।

भौतिक परिग्रह मेरा बना रहे और भीतर से उसकी लोलुपता छूट जाये ऐसा नहीं हो सकता। इसीलिये बाह्य परिग्रह का त्याग साधक के लिये अनिवार्य है। अंतरंग में जितना ममत्व-भाव हो इतने पदार्थ मिल ही जाये, ऐसा नियम तो नहीं है, परन्तु बाहर जितना हमने ज़ोड़कर, संजोकर रखा है, जिसकी रक्षा के लिये हम दिन-रात चिन्तितं हैं, नियम से उसकी ममता हमारे भीतर होगी। धान का ऊपरी मोटा छिलका चढ़ा रहे और भीतर का महीन लाल छिलका उतर जाये यह कैसे सम्भव है ?

परिग्रह परिमाण-अणुव्रत में विक्षेप उत्पन्न करने वाले पांच अतिचार हैं—अतिवाहन, अतिसंग्रह, अतिविस्मय, अतिलोभ, और अति-भारवाहन। इनकी व्याख्या इस प्रकार होगी—

1. अधिक लाभ की आकांक्षा में शक्ति से अधिक दौड़-धूप करना। दिन-रात उसी आकुलता में उलझे रहना और दूसरों से भी नियम-विरुद्ध अधिक काम लेना ''अतिवाहन'' है।

2. अधिक लाभ की इच्छा से उपभोक्ता वस्तुओं का अधिक समय तक संग्रह करके रखना। यानी अधिक मुनाफाखोरी या जमाखोरी की भावना रखकर संग्रह करना "अतिसंग्रह" है।
3. अपने अधिक लाभ को देखकर अहंकार में डूब जाना और दूसरों के अधिक लाभ में विषाद करना, जलना-कुढ़ना और हाय-हाय करना "अतिविस्मय" है। अपनी निर्धारित सीमा को भूल जाना या बढ़ाने की भावना करना भी उसमें शामिल है।
4. मनचाहा लाभ होते हुए भी और अधिक लाभ की आकांक्षा करना। क्रय-विक्रय हो जाने के बाद भाव घट-बढ़ जाने से, अधिक लाभ की सम्भावना हो जाने पर उसे अपना घाटा मानकर संक्लेश करना "अतिलोभ" है।
5. लोभ के वश होकर किसी पर न्याय-नीति से अधिक मार डालना, तथा सामने वाले की सामर्थ्य के बाहर अपना हिस्सा, मुनाफा, ब्याज आदि वसूल करना "अति भारवाहन" है।

पांच इन्द्रियों के माध्यम से स्पर्श, रस, रूप गन्ध और शब्द-स्वर आदि का ज्ञान होता है। इसी माध्यम से वस्तुओं के संग्रह की भावना बढ़ती जाती है, अतः पांच इन्द्रियों के विषयों पर नित्य नियंत्रण की भावना रखना परिग्रह-परिणाम व्रत की भावना है।

पाप दुख रूप हैं : दुख के बीज भी हैं

हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील और परिग्रह ये पांच पाप दुख रूप हैं। जिसके साथ हिंसा आदि का व्यवहार किया जाता है वह तो दुखी होता ही है, परन्तु इन्हें करते समथ पाप करने वाले को भी कई प्रकार के दुख झेलने पड़ते हैं। पाप करते समय मनुष्य को आकुलता, भय, शंका और तृष्णा आदि न जाने कितने प्रकार की मानसिक पीड़ाएं सहनी पड़ती हैं, अतः पाप दुख रूप हैं। आगामी काल में इन पापों का दुष्फल भोगना पड़ेगा तब भी तरह-तरह के दुख जीव को उठाने पड़ेंगे, अतः पाप दुख के बीज भी हैं।

वध-वंधन और पीड़न जिस प्रकार मुझे अप्रिय हैं, इसी प्रकार वे दूसरे प्राणियों को भी अप्रिय और कष्टकर होंगे।

किसी के कठोर और कटु-वचन सुनकर या झूठी बातों से जैसे मुझे दुख होता है, वैसे ही दूसरों को भी दुख होता होगा।

मेरी किसी वस्तु की चोरी हो जाने पर, या ठगे जाने पर मुझे जैसी पीड़ा होती है, वैसे ही दूसरे लोग भी वस्तु के वियोग में पीड़ित होते होंगे।

मेरे परिवार की स्त्रियों का जरा सा भी तिरस्कार हो जाये तब मुझे जैसा मानसिक कष्ट होता है, वैसा ही अपनी माता-बहिन-पत्नी या पुत्री को लेकर दूसरों को भी होता होगा।

परिग्रह-प्राप्ति में बाधा आ जाने पर, या प्राप्त परिग्रह के नष्ट हो जाने पर जैसे मुझे वांछा और शोक आदि का दुख उठाना पड़ता है, वैसा ही सभी को होता होगा।

बार-बार ऐसा चिन्तवन करने से यह आस्था बनेगी कि हिंसादिक पाप केवल दूसरों के लिये ही दुखद नहीं हैं, वे मेरे लिये भी वर्तमान में दुख-रूप हैं तथा भविष्य के लिये दुख के बीज हैं। आज बोते समय भले ही क्षणिक सुख का आभास इनमें होता हो, परन्तु कालान्तर में जब मुझे वह फसल काटनी पड़ेगी, तब यातनाओं, पीड़ाओं और संक्लेशों के चक्र-व्यूह में मेरी आत्मा अकेली ही होगी। उस समय मेरा कोई सहाई नहीं होगा।

नहीं, अब मुझे यह कटीली फसल बोनी ही नहीं है। अपने कुरुक्षेत्र को सुलगने नहीं देना है। पांच ग्राम देकर यह संघर्ष टलता हो तो यह अवसर खोना नहीं है।

क्या सचमुच परिग्रह पाप है

शास्त्रों में पग-पग पर परिग्रह को पाप बताया गया है। जिसने भी आत्म-कल्याण का संकल्प लिया उसने सबसे पहले परिग्रह का ही त्याग किया है। प्रायः सभी धर्मग्रन्थों में परिग्रह की निन्दा की गई है। परन्तु बात कुछ समझ में आती नहीं। सारी सुख-सुविधाएं उपलब्ध कराने की सामर्थ्य रखने वाली सम्पदा पाप कैसे हो सकती है ? कुछ लोग उसे पुण्य का फल भी तो कहते हैं ? पुण्य का फल और "पाप", यह कैसे हो सकता है ?

ऐसे अनेक प्रश्न परिग्रह को लेकर मन में उठते हैं। यदि परिग्रह पाप है तो उसका जहरीलापन समझा जाना चाहिये। उसे सही परिप्रेक्ष्य में पहचाना जाना चाहिये। इसलिये परिग्रह पर कुछ और विचार करेंगे।

अपरिग्रह

एक व्यक्ति मकान बनवाना चाहता था। उसने वास्तुकार से अपने मन का नक्शा तैयार करवाया। नक्शा सचमुच बहुत अच्छा बना था। उसके साथ निर्माण के लिये तकनीकी परामर्श (वर्किंग डिजाइन्स) भी साथ में दी गई थीं। इस सब के लिये धन्यवाद देते हुए वास्तुकार से प्रश्न किया गया – "कभी-कभी नये मकान में भी पानी टपकने लगता है। आप इतनी कृपा और करें कि इस नक्शे में उन स्थलों पर निशान लगा दें जहां पानी टपकने की हालत में मरम्मत करानी चाहिए।

प्रश्न सुनकर वास्तुकार चकित था। अपने व्यावसायिक जीवन में पहली बार ऐसे प्रश्न से उसका सामना हुआ था। उसने कहा – "बन्धु ! यदि मेरी डिजाइन के अनुसार निर्माण होगा तो मकान में पानी टपकने का कोई प्रश्न ही नहीं है। परन्तु, यदि किसी कारण से, कभी, छत टपकने ही लगे तो उस समय कहां मरम्मत करानी होगी, यह आज नक्शे में कैसे रेखांकित किया जा सकता है ? जब पानी टपके तभी आप देख लें कि पानी कहां से टपकता है, बस वहीं मरम्मत करानी होगी।

भगवान महावीर ने हमें अपने व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिये भी एक ऐसा नक्शा दिया था जिससे एक छिद्र-रहित भवन हम बना सकते थे। उन्होंने जीवन-निर्माण के लिए कुछ ऐसे तकनीकी परामर्श दिये थें जिन पर यदि अमल किया जाता तो एक निष्पाप और निष्कलंक व्यक्तित्व हमारा बन सकता था। हमारे जीवन में पाप का प्रवेश हो ही नहीं सकता था।

परन्तु हम चूक गये। अपने व्यक्तित्व का प्रासाद खड़ा करते समय हमने महावीर के निर्देशों का पालन नहीं किया। इसी का फल है कि हमारे जीवन में पांच पापों का प्रवेश हो रहा है। यदि हमारा जीवन उनकी बताई हुई पद्धति पर गढ़ा जाता तो उसमें पाप के रिसाव का कोई प्रश्न ही नहीं था।

अब हमारे सामने समस्या यही हैं कि अपने सछिद्र व्यक्तित्व को परिपूर्ण बनाने के लिये हम क्या उपचार करें ? हमारे जीवन में जगह-जगह पाप का मलिन जल टपक रहा है, किस तरफ से उस चुअन को रोकने का प्रयास करें ?

पांप-प्रवृत्तियों से बचने के लिये महावीर का यही परामर्श है कि निरन्तर आत्म-अवलोकन हम करते रहें और जिस आचरण के माध्यम से हमारे जीवन में पाप का प्रवेश होता दिखे, उस आचरण को पूरी सतर्कता के साथ अनुशासित करने का प्रयत्न करें।

पाप की जड़ : लिप्सा

आज हमारे जीवन में परिग्रह ही शेष चार पापों के द्वार खोल रहा है। आज वही कैन्सर की व्याधि बनकर हमारे मन-मष्तिष्क पर छाया हुआ है। जीवन में प्रवेश करती हुई पाप की धारा को रोकने के लिये, हमें पहले अपनी परिग्रह-लिप्सा पर अंकुश लगाना होगा, तभी उस दिशा में आगे बढ़ा जा सकेगा।

हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील से हम सब घृणा करते हैं, परन्तु परिग्रह से कोई घृणा नहीं करता। उल्टे उसके सान्निध्य में हम अपने आप को सुखी और भाग्यवान समझने लगे हैं। यह परिग्रह-प्रियता हमें भीतर तक जकड़ रही है। यह हित-अहित का विवेक भी हमसे छीन रही है। आज परिग्रह के पीछे मनुष्य ऐसा दीवाना हो रहा है कि उसके अर्जन और संरक्षण के लिये वह, करणीय और अकरणीय, सब कुछ करने को तैयार है।

हम अनजाने में भी हिंसक नहीं होना चाहते, परन्तु परिग्रह के अर्जन और रक्षण के लिये जितनी भी हिंसा करनी पड़े, हम करते जा रहे हैं।

हम स्वप्न में भी झूठ और चोरी में अपनी प्रतिष्ठा नहीं मानते। उनके बिना अपने आप को दुखी भी नहीं मानते। परन्तु परिग्रह के अर्जन और रक्षण के लिये जितना झूठ बोलना पड़े, हम बोलते हैं। जिस-जिस प्रकार की चोरी करना पड़े, हम करने को तैयार बैठे हैं।

आज हमारी जीवन पद्धति में व्यभिचार और कुशील निन्दनीय माने जाते हैं। कोई कुशील को अपने जीवन में समाविष्ट नहीं करना चाहता। परन्तु परिग्रह के अर्जन और रक्षण के लिये जितना कुशील-मय व्यवहार करना पड़े, हममें से प्रायः सब, उसे करने के लिए तैयार बैठे हैं।

परिग्रह को लेकर कहीं अनुज अग्रज के सामने आंखें तरेर कर खड़ा है। उसकी अवमानना और अपमान कर रहा है। कहीं अ [illegible]ज

अपने अनुज को कोर्ट-कचहरी तक घसीट रहा है। परिग्रह को लेकर ऐसे तनाव प्रगट हो रहे हैं कि बहिन की राखी भाई की कलाई तक नहीं पहुंच पा रही। परिग्रह के पीछे पति-पत्नी के बीच अनबन हो रही है और मित्रों में मन-मुटाव पैदा हो रहे हैं।

ये होने के पहले ही टूटते हुए रिश्ते, ये चरमराते हुए दाम्पत्य, परित्यक्ता पत्नियों की ये सुलगती हुई समस्याएं, और दहेज की वेदी पर झुलसती-जलती ये कोमल-कलियां, हिंसा-झूठ और चोरी का परिणाम नहीं हैं। ये सारी घटनाएं व्यभिचार के कारण भी नहीं घट रहीं। मानवता के मुख पर कालिख पोतने वाले, और समाज में सड़ांध पैदा करने वाले ये सारे दुष्कृत्य, हमारी परिग्रह-लिप्सा का ही कुफल हैं। गहराई में जाकर देखें तो इनमें से अधिकांश घटनाओं के पीछे हमारा लोभ, हमारी लालच, और भौतिकता के लिये हमारी अतृप्त-आकांक्षाएं ही खड़ी दिखाई देंगीं।

जैन आचार-संहिता में परिग्रह की लोलुपता को सभी पापों की जड़ बताते हुए कहा गया – ''मनुष्य परिग्रह के लिए ही हिंसा करता है। संग्रह के निमित्त ही झूठ बोलता है और उसी अभिप्राय से चोरी के कार्य करता है। कुशील भी व्यक्ति के जीवन में परिग्रह की लिप्सा के माध्यम से ही आता है। इस प्रकार परिग्रह-लिप्सा आज का सबसे बड़ा पाप है। उसी के माध्यम से शेष चार पाप हमारे जीवन में प्रवेश पा रहे हैं। लिप्सा ही वह छिद्र है जिसमें से होकर हमारे व्यक्तित्व के प्रासाद में पाप का रिसाव हो रहा है–

संग णिमित्तं मारइ, भणई अलीकं, करेज्ज चोरिक्कं,
सेवइ मेहुण-मिच्छं, अपरिमाणो कुणदि जीवो।

–समणसुत्तं

बलिहारी है बुद्धि की

एक संत ने तृष्णावान पुरुषों पर व्यंग्य करते हुए कहा है – ''आपकी परिग्रह-प्रियता अनोखी है। जैसे-जैसे काल बीत रहा है, वैसे ही वैसे पुरुषार्थ के द्वारा आपकी धन-वृद्धि हो रही है, जो आपको अत्यन्त प्रिय है। परन्तु इस तृष्णा में आप यह भी भूल जाते हैं कि जिस गति से काल व्यतीत होता है, उसी गति से आपकी आयु भी क्षीण हो रही है।''

—"इसके बाद भी आप अपनी प्रतिक्षण खिरती हुई आयु का कोई सार्थक उपयोग नहीं करना चाहते। यह जानते हुए भी धन की ही आकांक्षा में लगे हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि आप अपने जीवन से अधिक, अपनी धन-सम्पदा को चाहते हैं। आपकी बुद्धि विलक्षण है।"

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्ष, हेतुं कालस्य निर्गमम्।
वांचछतां धनिनामिष्टं, जीवितात्सुतरां धनम्।।

—आचार्य पूज्यपाद/इष्टोपदेश/15

यह कैसा गणित है हमारा ?

वास्तव में हमारे आर्थिक चिन्तन में कहीं न कहीं कोई भूल अवश्य हो रही है। लगता है कि हम अपने जीवन-मूल्य उसके साथ जोड़ नहीं पा रहे हैं। उदाहरण के लिए कोई एक मकान बन रहा है। उसके लिये हमारे पास पूरा तखमीना तैयार है। भूमि के मूल्य से लगाकर ईंट, सीमेंट, और वह सब कुछ, जो भवन के निर्माण में लगने वाला है, उस सब की कीमत जोड़कर हमने पूरे मकान की लागत का अनुमान कर लिया है। परन्तु उसे बनवाते समय हमारे जीवन के जो अनमोल वर्ष व्यय होने वाले हैं, उसका कोई अनुमानित मूल्य हमारी लागत में शामिल नहीं है।

मकान बनते समय जितनी देर में एक ईंट रखी जाती है, उतनी देर में हमारी एक सांस भी निकल जाती है। इस सांस का मूल्य किस खाते में जोड़ा गया है ? कभी विचार करें कि आखिर श्वांसों की भी तो एक निश्चित सीमा है। भवन की आखिरी ईंट के साथ निकलने वाली सांस ही यदि हमारे जीवन की आखिरी सांस हो तो उस मकान की लागत क्या होगी ?

संसार में अपना गुजारा करने के लिये परिग्रह जोड़ना और उसका संरक्षण करना आवश्यक है। परन्तु उसके जाल में उलझ कर, संग्रह को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लेना, कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। इच्छाओं की सीमा निर्धारित करके, आकांक्षाओं की असीमता पर अंकुश लगाकर, हम सम्पत्ति के साथ साता, सुख और संतोष का भी अर्जन कर सकते हैं। वही हमें करना चाहिए।

सुख का मूल : संतोष

कहा जाता है कि पहले कभी सब के आंगन में कल्प-वृक्ष हुआ करते थे। जीवन की सभी आवश्यक वस्तुएं, याचना करने पर उन कल्प-वृक्षों से प्राप्त हो जाती थीं। शायद वह तब की बात होगी जब मनुष्य को संग्रह का रोग नहीं था। उसकी आवश्यकताएं सीमित थीं और वह अपने वर्तमान में जीना जानता था। समाज में छीना-झपटी और संचय की होड़ नहीं थी।

आज परिस्थितियां कुछ अलग प्रकार की हैं। सादगी का सौन्दर्य और संतोष की सुगन्ध हमारे जीवन में कहीं दिखाई नहीं देती। व्यय का आय के साथ कोई संतुलन नहीं है। हमारी असीम-आकांक्षाएं से डर कर ही शायद कल्प-वृक्ष कहीं छिप गये हैं। वे लुप्त नहीं हुए। आज भी यदि संचय की तृषा न हो, और आकांक्षाएं सीमति हों, तो हर आंगन में कल्प-वृक्ष उगाये जा सकते हैं।

यही बात कबीरदास ने अपने शब्दों में कही – "गाय-बैल, हाथी-घोड़े और मणि-माणिक्य, ये सब धन होंगे परन्तु एक इनसे भी बड़ा धन है। वह "संतोष-धन" जब उपलब्ध होता है तो ये सारे धन महत्वहीन हो जाते हैं"–

गो धन, गज धन, बाज़ि-धन, और रतन धन खान,
जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान।

हमने धन-सम्पत्ति के साथ अपने सुख-दुख जोड़ रखे हैं। वास्तव में यह धारणा मिथ्या है। विचार कर देखें तो सुख और दुख धन-सम्पत्ति में नहीं, उसके साथ हमारी समझ में निहित हैं। जिस पदार्थ या जिस जीव के साथ हमारा जैसा रागात्मक सम्बन्ध है, उसे लेकर वैसे ही सुख-दुख हमें व्यापते हैं। सम्पत्ति से हमने जो अपेक्षायें कर रखी हैं उन्हीं के अनुसार हमारे सुख-दुख के प्रतिमान बदलते रहते हैं।

कोई व्यक्ति एक मकान पाकर सुख मानता है। दुर्घटनावश यदि मकान जल जाये तो उसका दुखी होना भी समझ में आता है। परन्तु परिग्रह के समीकरण इस गणित को भी पलट देते हैं। कभी ऐसा भी होता है कि मकान से मालिक को आकुलताएं मिलती हैं और मकान जल जाये तो वह सुखी हो जाता है।

एक व्यक्ति का किसी शहर में एक मकान था। पुराना मकान और उसमें पुराने किरायेदार। भाड़ा बढ़ाने की बात कौन कहे, पिछला भी वसूल नहीं होता था। नगरपालिक निगम के कर अपने पास से भरने पड़ते थे। मकान बेचने की बात चलाते, परन्तु लाख-दो लाख का भी खरीददार नहीं मिलता था क्योंकि मकान पर कब्जा मिलना बहुत कठिन था।

एक दिन किसी मित्र ने फोन पर खबर दी कि आपका मकान जल गया। जहां तीन मंजिला खड़ा था, वहां अब सिर्फ एक राख का ढेर है।

खबर सुनते ही घर में मातम छा गया। उस दिन चूल्हा भी नहीं जला। जैसा भी था, इतने बड़े शहर में अपना एक मकान तो था। पाप के उदय से आज वह चला गया। गांव भर के लोग समझाने और धीरज बंधाने चले आ रहे थे। बिल्कुल ऐसा माहौल था जैसे परिवार में किसी की मृत्यु हो गई हो। रोना-धोना समझाना सब वैसा ही।

शाम की गाड़ी से दलाल ने आकर कहा—"एक ग्राहक मिला है। पांच लाख में लेने को तैयार है। सौदा स्वीकार करें तो एक लाख बयाना में अपने साथ लाया हूं।"

गृहपति ने ठण्डी सांस लेते हुए कहा—"क्यों जले पर नमक छिड़कते हो भाई, जिस मकान के बेचने की बात थी वह तो अब रहा ही नहीं। कल उसमें आग लग गई। अब तो वहां सिर्फ राख का ढेर है।"

दलाल ने हंसते हुए कहा—"वह सब मुझे मालूम है। आग लगने के बाद ही वहां से चला हूं। पहले कब्जा मिलने में बहुत कठिनाइयां थीं, इसलिए कोई खरीदना नहीं चाहता था। अब सारी कठिनाइयां दूर हो गईं। जमीन एकदम खाली पड़ी है। आज कब्जा लेकर कल से वहां नया निर्माण आरम्भ कराया जा सकता है। इसीलिए कई ग्राहक सामने आ गये हैं।"

"आप तो दो लाख में देने को तैयार थे। मैं पांच लाख का बयाना लेकर आया हूं। परन्तु मेरी राय है कि आप बेचने में जल्दबाजी न करें। यदि दस दिन भी ठहर जायें तो सात-आठ लाख का ग्राहक मैं तलाश कर लाऊंगा।"

दलाल की बात सुनते ही घर का माहौल बदल गया। रुदन की जगह हर्ष और उल्लास लहराने लगा। बुझा हुआ चूल्हा जल उठा जो

मातम-पुरसी के लिये आ रहे थे उनके चाय-नाश्ते की व्यवस्था होने लगी। सब के मुख पर मुस्कान खिलने लगी।

यह हमारे मन का एक चित्र है। हर कोई प्राय: जमीन और मकान का मालिक बनकर प्रसन्न होता है। यदि उस सम्पत्ति को जरा भी क्षति पहुंचे तो स्वामी का दुखी होना एकदम स्वाभाविक है। परन्तु ऐसा भी हो सकता है कि सम्पत्ति के रहते उसमें सुख और संतोष न मिले, उल्टी आकुलताएं ही मिलती रहें और सम्पत्ति आग में स्वाहा हो जाये तब हम उसमें सुख की अनुभूति करें, हर्ष मनायें। प्रश्न यह है कि ऐसी स्थिति में नियम क्या माना जाये ? मकान सुरक्षित रहेगा तब उसमें सुख मिलेगा या उसके जल जाने पर सुख की अनुभूति होगी ?

वास्तविकता यह है कि मकान के रहने या जल जाने का हमारे सुख-दुख के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं है। अपनी-अपनी होनहार और संयोगों के आधार पर जगत के पदार्थ उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं। अपनी-अपनी आयु के अनुसार सभी प्राणी जनमते और मरते रहते हैं। इसी परिवर्तन-चक्र का नाम तो संसार है। इस विशाल विश्व के ऐसे नित्य-परिवर्तन हमारे सुख-दुख के नियामक नहीं हैं।

सुख-दुख के सारे समीकरण हमारी अपनी समझ पर, अपने अनुबंधों पर और अपने दृष्टिकोण पर निर्भर हैं। जिसके सम्पर्क में आज हम सुख मानते हैं, कल हमें उसका वियोग सुखद लगता है। आज जिसका साथ सुखद लगता है, समय फिरते ही कल उसका संग-साथ दुखद लगने लगता है। विचार करें तो सुख की सारी मान्यता के पीछे हमारी बुद्धि के यही समीकरण दिखाई देंगे।

ऐसी स्थिति में सम्पत्ति पर ऐसे लेबिल नहीं लगाये जा सकते कि इसके समागम में सुख मिलेगा, और इसके नाश होने पर सुख मिलेगा। अन्तिम निष्कर्ष यही निकालना होगा कि सुख और दुख पदार्थों में नहीं हैं, वे हमारी कल्पनाओं में हैं। वास्तव में सुख और दुख का कहीं कोई अस्तित्व ही नहीं है। हम अपनी वर्तमान परिस्थितियों में, दूसरी परिस्थितियों के साथ उनकी तुलना करके, अपने आप को सुखी या दुखी बनाते रहते हैं। सुख और दुख वास्तविक नहीं, काल्पनिक हैं। वे निरपेक्ष नहीं सापेक्ष हैं। उनकी उत्पत्ति पदार्थों में नहीं हमारी बुद्धि में होती है।

इससे यह भी समझ में आना चाहिए कि सुख और दुख दोनों हमारे हाथ में ही हैं। हम चाहे जिस परिस्थिति में हों, चाहे जिस घटना से प्रभावित हो रहे हों, उसमें सुख का अनुभव करना, या दुख का अनुभव करना, एक सीमा तक हमारे वश में है। जब हम अपने से अधिक सुखी व्यक्तियों की कल्पना करते हैं, उनके सुख पर विचार करते हैं, तब हम अपने लिये दुख का अनुभव कर लेते हैं। परन्तु यदि हम अपने से अधिक दुखी व्यक्तियों की कल्पना करें, उनके दुखों का विचार करें, तो उसी समय हम सुख का अनुभव कर सकते हैं।

हमने सुख-दुख का सीधा-सम्बंध परिग्रह के संयोग-वियोग से जोड़ लिया है। ऐसी ही धारणा बना ली है। शायद यही हमारी सबसे बड़ी भ्रान्ति है।

क्या दिया है परिग्रह ने ?

लालसा से भरा हमारा मन जहां तक जाता है, वहां तक सब कुछ हमारा परिग्रह है। यह मन की लालसा चित्त को व्यामोह की कुंडली में कस लेती है। आचार्यों ने लालसा की इसी वृत्ति को "मूर्च्छा" कहा है। जिसके मन में पर पदार्थ के प्रति गहरी लालसा है, मूर्च्छा-भाव है, सारा संसार उसका परिग्रह है। जिसके मन से यह मूर्च्छा-भाव निकल गया है, संसार में रहते हुये भी, संसार उसका नहीं है—

मूर्च्छाच्छन्न धियां सर्व जगदेव परिग्रहः,
मूर्च्छया रहितानां तु जगदेवाऽपरिग्रहः।

आज परिग्रह की मूर्च्छा में से उपजा असंतोष मनुष्य को अनेक वर्जित दिशाओं में ले जा रहा है। कामनाओं से तृषित पत्नी अपने पति से संतुष्ट नहीं है। धन के मद में नित-नई चाह रखने वाला पति अपनी पत्नी में कोई नवीनता नहीं देख पाता। उसकी दृष्टि कहीं अन्यत्र है। जहां व्यभिचार के अवसर नहीं हैं वहां भी मानसिक व्यभिचार निरंतर चल रहा है। जीवन तनावों में कसा हुआ नरक बन रहा है। जिसके पास जो कुछ है, वह उससे संतुष्ट नहीं है।

एक कोयल का बच्चा रो रहा था। उसे अपने काले-कलूटे पंखों पर चिढ़ आ रही थी। अभी-अभी उसने मयूर की पीठ पर सुन्दर सतरंगे पंख देखे थे। उसे भी ऐसे ही लुभावने पंख चाहिये।

कोयल जब अपने नन्हें-मुन्ने को समझाते-समझाते थक गई तब उसे लेकर मयूरी के पास चली। शायद उसके गिरे-पड़े पंख पाकर ही बच्चा बहल जाये। पर वहां दूसरा ही तमाशा हो रहा था। मयूर का बच्चा मचल-मचल कर रो रहा था। उसे अपनी भोंड़ी आवाज एकदम नापसन्द थी। उसे कोयल की तरह मीठी और सुरीली आवाज चाहिये।

हमारे साथ भी क्या ऐसा ही नहीं हो रहा ? जिसके पास जो है, उसमें उसे कोई सुख, कोई संतोष नहीं मिल रहा। परन्तु जो उसके पास नहीं है, और दूसरों के पास है, उसका अभाव उसे निरंतर दुखी कर रहा है।

संसार के किसी भी पदार्थ को ले लें, किसी भी उपलब्धि पर विचार कर लें। जिसे वह प्राप्त नहीं है वह उसे पाने के लिये दुखी है, परन्तु जिसे वह प्राप्त है, वह भी सुखी नहीं है। वह तो किसी और पदार्थ के लिये, किसी दूसरी उपलब्धि के लिये अपने मन में आकर्षण पाल रहा है। उसी लालसा में दिन-रात दुखी हो रहा है। परिग्रह-लिप्सा ने हमें सिर्फ अतृप्ति दी है। एक अन्तहीन अतृप्ति।

भोगने का भी समय नहीं

परिग्रह का अर्जन और संकलन मूलतः सुख भोगने की दृष्टि से किया जाता है। परन्तु लिप्सा ने हम पर ऐसा जादू कर रखा है कि संचय हमारा अन्तिम लक्ष्य बनकर यह रह गया है। हम अन्तिम सांस तक जोड़ना ही चाहते हैं। संचित को भोगने की, या दूसरों के हित में उसका व्यय करने की हमारी कोई योजना ही नहीं होती। लगता है कि यह सम्पत्ति हमारे लिये नहीं आ रही, वरन् हम ही इस सम्पत्ति के लिये बने हैं। धर जा, मर जा, और बिसर जा, क्या यही हमारी नियति है ?

एक संत कहा करते थे—गरीब जुलाहा भी एक बीता ताना छोड़कर बुनाई समाप्त कर देता है। हम शायद उससे भी गये-बीते हैं जो आखिरी सांस तक ताना-बाना बिठाते रहना चाहते हैं। दुनिया के हाट से अपनी दुकान समेटना ही नहीं चाहते।

भिखारी बनाती है लालसा
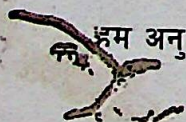
हम अनुभव कर सकते हैं कि आज परिग्रह के प्रति यह अंधी

लालसा, सारे पापों और अनीतियों का कारण बनकर, हमारे जीवन को प्रदूषित और मलिन कर रही है। यदि इस प्रदूषण से बचकर जीवन को उसकी स्वाभाविक सुगंधि और पवित्रता प्रदान करनी है, तो हमें अपनी परिग्रह-लिप्सा पर विचार करना ही होगा। उसका कोई अन्य मार्ग नहीं है।

तृष्णा का दंश बहुत विषहरा होता है। उसकी लहर में मन की प्यास बढ़ती जाती है। चित्त में क्षोभ बना रहता है, और मनुष्य एक विशेष प्रकार की रुग्ण-मानसिकता का शिकार हो जाता है। दो पंक्तियां मुझे याद आती हैं—

वह पराधीन है, सबसे बड़ा भिखारी है,
जिसमें अनन्त अभिलाषा है, संतोष नहीं।

राजा या रंक

किसी बादशाह का लश्कर जा रहा था। किसी पड़ोसी राज्य पर चढ़ाई की तैयारी थी। हाथी-घोड़ों, रथ और पयादों के बीच में एक सजे-धजे हाथी के हौदे पर बादशाह सीना तान कर बैठा था। अकस्मात एक ओर से एक रुपया सन्नाता हुआ आया और सीधा शहंशाह की नाक पर लगा। वे पीड़ा से तिलमिला उठे। उन्हें हौदे से उतारा गया। कुछ लोग उनके उपचार में जुट गये और कुछ इस तलाश में कि वह रुपया उन पर किसने फेंका। थोड़ी ही देर में वे एक फकीर को पकड़ कर लाये—

—"यही वह गुनहगार है जिसने हुजूर को चोट पहुंचाई है।"

शहंशाह तो अपनी चोट की पीड़ा भोग रहे थे परन्तु उनका सेनापति क्रोध से उबल रहा था। बहुत दर्प भरे स्वर में उसने प्रश्न किया—"बादशाह पर हमला करने की तुम्हें हिम्मत कैसे हुई ?"

—"मैंने शहंशाह को चोट पहुंचाने वाला कोई काम नहीं किया। किसी भक्त ने मुझे एक रुपया दिया था। मैंने वह रुपया अपने गुरु की नज़र किया। उन्होंने रुपया मुझे लौटा दिया और कहा—"फकीर कभीं रुपया पैसा अपने पास नहीं रखते। इसे किसी जरूरतमन्द को दे देना।

रात भर वह रुपया मेरी झोरी में था, लेकिन इसका बोझ मेरे मन पर बना हुआ था। इसके होने का अहसास बराबर मेरी रूह को बेचैन

किये हुए था। वह मुझे चुभ रहा था। सुबह से मैं इसी तलाश में इस सड़क किनारे बैठा हूं कि कोई जरूरतमंद नज़र आवे और उसे यह रुपया सौंप कर मैं अपना बोझ हल्का करूं।"

फकीर ने बादशाह की ओर मुखातिब होकर नम्रता से कहा—"आप दिखे, लेकिन आप इतनी ऊंचाई पर बैठे हुए थे कि मुझे यह रुपया निशाना साध कर आपकी ओर उछालना पड़ा। जरूरतमन्द को इतना ऊंचा नहीं बैठना चाहिए कि मददगार का हाथ ही उस तक न पहुंच सके। फिर आपके हाथ में कोई कटोरा भी न था, इसलिए रुपया आपके चेहरे पर गिरा। मैं सिर्फ आपकी मदद करना चाहता था। आपको चोट पहुंचाना मेरा मकसद नहीं था।"

दर्द के बीच भी फकीर की बातों पर बादशाह को हंसी आ गई।

—"तुमने मुझे जरूरतमंद और रुपये का मोहताज समझ लिया यह तुम्हारी बुद्धि की बलिहारी है। जानते हो मैं कौन हूं ?"

फकीर ने मुस्कराते हुए कहा—"जहां पनाह ! मैं तो आपको पहिचानता भी नहीं था। मैंने आपके सिपह-सालारों से ही पूछा। मुझे बताया गया कि आप पड़ोस की रियासत पर चढ़ाई करके उसे अपनी सल्तनत में शामिल करने की गरज से घर से निकले हैं। मैंने अपनी जिन्दगी में बहुत से जरूरतमन्द लोग देखे हैं, लेकिन उनकी जरूरतें छोटी, बहुत मामूली किस्म की हुआ करती थीं। आप जैसा बड़ा और रौब-दाब वाला जरूरतमंद आज पहली बार मैंने देखा। मुझे लगा इससे बड़ा भिखारी शायद तलाशने पर भी मुझे नहीं मिलेगा। बस, यही सोचकर मैंने अपनी झोली का रुपया आपके पास तक पहुंचाने की कोशिश की।"

—"जो अपनी ख्वाहिश के लिये दूसरे को नेस्त-नाबूत करने चल पड़ा हो, जो उस मकसद पर अपने चहेतों की जिन्दगी भी कुर्बान करने पर तुला हो, उससे बड़ा और सच्चा "जरूरतमन्द" और कौन होगा ?"

लोभ और तृष्णा इसी तरह राजा को भी रंक और भिखारी बना देती है। जो आशा और तृष्णा के गुलाम हो गये, वे सारी दुनिया के गुलाम हो जाते हैं, परन्तु आशा को जिन्होंने वश में कर लिया, सारा संसार उनके वश में हो जाता है। वे लोक-विजयी होकर मानवता के मार्ग-दर्शक बन जाते हैं। यही बात एक नीतिकार ने कही—

आशाया ये दासाः, ते दासा सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी, तेषां दासायते लोकः।

तब हमें अपनी चिर-पोषित अतृप्त आकांक्षाओं को, और अनावश्यक आवश्यकताओं को, क्या बार-बार परखते नहीं रहना चाहिए ? क्या उन पर अंकुश लगाने का प्रयास नहीं करना चाहिए ?

पाना या खोना एक ही तो है

देहात के किसी स्कूल में एक दिन दो विद्यार्थी देर से पहुंचे। अध्यापक ने दोनों से विलम्ब का कारण पूछा। पहले विद्यार्थी ने उत्तर दिया—"मेरे पास एक रुपया था जो मार्ग में ही कहीं गिर गया। उसे ढूंढने में मुझे देर हुई। रुपया भी नहीं मिला और कक्षा भी गई।" कहते-कहते विद्यार्थी की आंखों से आंसू झरने लगे।

दूसरे विद्यार्थी ने दण्ड के भय से सकपकाते हुए कहा—"इसका जो रुपया खोया था उसे मैं ही अपने पांव के नीचे दबाकर खड़ा था। बहुत देर तक यह वहां से हटा ही नहीं, मैं कैसे वह रुपया उठाता और कैसे वहां से चलता। बस, इसी कारण मुझे देर हुई।"

घटना की दृष्टि से देखें तो दोनों विद्यार्थियों की भूमिका में अन्तर है। एक ने कुछ खोया है, जबकि दूसरे ने कुछ पाया है। परन्तु प्रतिफल की दृष्टि से देखा जाये तो दोनों ही दुखी हुए हैं। अपने कर्तव्य पालन में दोनों को ही विलम्ब हुआ है। उसके लिये दोनों ही दण्ड के भागीदार बने हैं। जिसका कुछ खो गया उसे खोने की पीड़ा है, और जिसे कुछ मिला है उसे छिन जाने का भय त्रस्त कर रहा है। उसे प्राप्ति को अपने पैर के नीचे दबाये रखने की चिन्ता है।

यही तो कारण है कि संसार में सब दुखी ही हैं। जिसके पास कुछ नहीं है वह सम्पत्ति के अभाव की यातना से दुखी है। जिसके पास कुछ है वह परिग्रह के सद्भाव में होने वाले तरह-तरह के दुःखों से दुखी हो रहा है। दुखों को जन्म देने वाली आकांक्षाएं और आकुलताएं सबके मन में हैं, लेकिन सुख को उत्पन्न करने वाली निराकुलता, सहिष्णुता और संतोष यहां किसी के पास नहीं है। संतोष और अनाकांक्षा के बिना सुख की कल्पना भी कैसे की जा सकती है ?

जार्ज बर्नार्ड शॉ ने लिखा है — "हमारे जीवन में दो दुखद घटनाएं

घटती हैं। पहली यह कि हमें अपनी मनचाही वस्तुएं मिलती नहीं हैं। दूसरी यह कि वे हमें मिल जाती हैं।"

—"There are two tragedies in life.
One is not to get your heart's desire.
The other is to get it.

—George Bernard Shaw

बात खोने की हो या पाने की इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। दोनों ही परिस्थितियों में मनुष्य के मन में संक्लेश ही उपजते हैं। उन्हीं संक्लेशों की पीड़ा उसे भोगना पड़ती है। वह जितना सम्पत्तिशाली होता जाता है, उसकी पीड़ा उसी अनुपात से बढ़ती जाती है।

जैनाचार्य गुणभद्रस्वामी ने अपने ग्रंथ में लिखा है—संसार में हर प्राणी के भीतर तृष्णा का इतना बड़ा गड्ढा है कि यदि उसमें विश्व की सारी सम्पदा डाल दी जाये, तब भी वह भरेगा नहीं, खाली ही रहेगा। ऐसी स्थिति में किसे, क्या देकर संतुष्ट किया जा सकता है ? विषयों की आशा और तृष्णा सदैव उन्हें दुखी ही करती रहेंगी।

तृष्णागर्तः प्रतिप्राणी यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति, वृथा वो विषयैषिता।

—आचार्य गुणभद्र/आत्मानुशासन

भोग-आकांक्षाओं की तृप्ति के लिये विचारकों ने तीनों लोकों की सम्पत्ति को भी अपर्याप्त माना है। अन्त में संतोष रूपी अमृत का पान करने पर ही ज्ञान के आनन्द की उपलब्धि स्वीकार की गई है—

भोगन की अभिलाष हरन कौं, त्रिजग सम्पदा थोरी,
यातैं ज्ञानानन्द "दौल" अब, पियौ पियूष कटोरी।

—दौलतराम/अध्यात्म पदावली

गीता में भी कर्म-बन्ध से बचने का उपाय बताते हुए यही कहा गया कि —"जो कुछ सहजता से प्राप्त हो उसमें संतुष्ट रहने वाला, हर्ष और शोक आदि द्वन्द्वों से रहित तथा ईर्ष्या से रहित ऐसा साधक जो अपने अभिप्राय की सिद्धि और असिद्धि में समता-भाव धारण करता है, वह कर्मों को करता हुआ भी कर्म-बन्ध नहीं करता"—

यदृच्छालाभ संतुष्टो द्वन्द्वातीतः विमत्सरः
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।

—गीता/4-22

वर्तमान समाज व्यवस्था में धन-सम्पत्ति को बहुत अधिक महत्व प्राप्त हो गया है। आज का समाज-दर्शन तो यह हो गया है कि जिसके पास धन है वही कुलीन है। वही विद्वान् है और वही गुणवान हैं। धनवान ही कुशल वक्ता है और वही दर्शनीय, भव्य व्यक्तित्व वाला है, क्योंकि सारे गुण धन के आश्रय में ही रहते हैं—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः,
स पण्डितः, स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता, स च दर्शनीयः,
सर्वे गुणाः कांचनमाश्रियन्ते।

फिर जहां ऐसी ही सामाजिक स्वीकृति धन को मिली हो, वहाँ उसके उपार्जन के लिये एक पागलपन भरी दौड़ अस्वाभाविक तो नहीं कही जा सकती।

धन से जहां तक हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति होती हो उसी हद तक वह हमारे लिये उपयोगी है। जो धन आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर पा रहा हो वह निरर्थक है। इसी प्रकार आवश्यकता से अधिक धन का भी कोई उपयोग नहीं है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में उतनी ही सम्पत्ति संकलित करने को उचित ठहराया है जितने से हमारे सांसारिक दायित्वों का भली प्रकार निर्वाह हो सके।

परिग्रह-परिमाण नाम के पांचवें अणुव्रत को "इच्छा-परिमाणव्रत" कहकर जैनाचार्यों ने भी यही कहा है कि व्यक्ति को अपनी इच्छाएं सीमित करके, उनकी पूर्ति के अनुरूप परिग्रह रखना चाहिये। उससे अधिक सम्पत्ति के प्रति उसे कोई व्यामोह या आकांक्षा नहीं रखनी चाहिये।

सामान्य गृहस्थ के लिये सुखी जीवन बिताने का एक ही उपाय है कि वह अपनी आय के भीतर व्यय का संयोजन करके, उसी में अपना काम चलाने का संकल्प ले। यदि आय से अधिक व्यय की आदत होगी तो नियम से जीवन में अशांति और असंतुलन रहेगा। आय से अधिक व्यय न हो, उसके भीतर ही जीवन यापन किया जा सके यह एक कला

है। इसके माध्यम से जीवन में आनन्द का विस्तार होता है और पूरा परिवार शांति का अनुभव करता है। नीतिकारों ने इसी कला को पाण्डित्य कहा है, इसी को वचन-कौशल कहा है। इतना भर नहीं, उन्होंने गृहस्थ के लिये इसे सबसे बड़ा धर्म कहकर इस कला की सराहना की है–

इदमेव हि पाण्डित्यं, इयमेव विदग्धता,
अयमेव परोधर्मः यदायान्नाधिको व्ययः।

–नीतिवाक्यामृत/108

रहीम ने भी अपने खुदा से यही याचना तो की थी कि –''जितने में मेरे परिवार का पेट भर जाये, अतिथि का सत्कार कर सकूं और मुझे भी भूखा नहीं सोना पड़े, ओ खुदा ! बस, मेरे लिये इतना ही पर्याप्त है। यही मेरी आरज़ू है''–

सांई इतना दीजिये, जामें कुटुंब समाय,
मैं भी भूखा ना रहूं, साधु न भूखा जाय।

–रहीम

जिस व्यक्ति के जीवन में इतना घटित हो जाए वही निर्भीक होकर सम्मान-पूर्ण जीवन जी सकता है। कबीर ने कहा–''वांछा समाप्त होते ही सारी चिन्ताएं नष्ट हो गईं। मन निश्चिन्त हो गया। ठीक ही तो है, जिन्हें किसी से कुछ नहीं चाहिये वे तो शाहों के भी शाह हैं''–

चाह गई, चिन्ता मिटी, मनुवा बे-परवाह,
जिनकौं कछू न चाहिये, सो साहन पति साह।

–कबीर

परिग्रह की लालसा पर अंकुश लगाने का एक मात्र उपाय है संतोष। जब तक हम अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं की सीमा निर्धारित नहीं करेंगे, और जब तक हम प्राप्त सामग्री में संतुष्ट और सुखी रहने की कला नहीं सीख लेंगे, तब तक तृष्णा की दाहक ज्वालाओं में हमें जलना ही होगा। परिग्रह से मोह बढ़ेगा और उससे तृष्णा की ज्वालायें और ऊंची होती जायेंगी। एक पद की दो पंक्तियां हैं–

रे मन कर सदा संतोष,

जातें मिटत सब दुख-दोष।
बढ़ैं परिग्रह मोह बाढ़त, अधिक त्तिस्ना होत,
बहुत ईंधन जरत जैसें, अगिनि ऊंची जोत।

—दौलतराम/अध्यात्म पदावली

ऋषियों के उपदेशों पर चलकर मनुष्य तम से प्रकाश की ओर बढ़ा हो या नहीं, उसने मृत्यु से अमरत्व की ओर पग बढ़ाये हों या नहीं, परन्तु अपनी परिग्रह-प्रियता से प्रेरित वह भौतिकता के क्षेत्र में उपलब्ध से अनुपलब्ध की ओर निरंतर बड़ी तेजी से दौड़ रहा है। विचार करना चाहिये हमें कि हमारी इस लक्ष्यहीन और थकाने-भरमाने वाली दौड़ का अंत कब होगा ? कहां होगा ? और कैसे होगा ?

परिग्रह की सामर्थ्य असीम नहीं है

दो हजार वर्ष पूर्व जैनाचार्य समन्तभद्र स्वामी ने धन के संचय की निरर्थकता को रेखांकित करते हुए कहा था—"यदि जीवन में पाप का निरोध हो गया तो वह निष्पाप-जीवन ही सबसे बड़ी सम्पदा है। फिर अन्य किसी सम्पदा का कोई अर्थ नहीं है। और यदि जीवन में पाप का आस्रव हो रहा हो, हमारा आचरण पापमय हो, तो किसी भी सम्पदा से हमारे जीवन का उत्कर्ष होने वाला नहीं है। पाप के साथ आने वाली सम्पत्ति हमें दुर्गति के गर्त में ही ले जायेगी। ऐसी स्थिति में सम्पदा से क्या प्रयोजन ?

यदि पाप-निरोधोऽन्य सम्पदा किं प्रयोजनम्।
यदि पापास्रवोऽस्त्यन्य सम्पदा किं प्रयोजनम्।

—रतनकरण्ड श्रावकाचार/27

जो हमें अत्यन्त प्रिय होता है, जिस पर हम लुभा जाते हैं, उसकी वास्तविकताओं की ओर से हम दृष्टि हटा लेते हैं। उसकी बुराइयों की ओर से हम अपनी आंखे मूंद लेते हैं। परिग्रह को जोड़ना चाहते हैं, जन्म-जन्मान्तर तक उसे साथ रखना चाहते हैं, परन्तु हम उसे पहचानना नहीं चाहते।

जब कोई व्यक्ति अपनी बीमारी को बीमारी समझता है, तब उसे दूर करने के उपाय भी करता है। ऐसे व्यक्ति के निरोग हो जाने की सम्भावनाएं रहती हैं। परन्तु यदि कोई रोगी अपनी बीमारी को ही अपना स्वास्थ्य समझने लगे तो फिर वह स्वास्थ्य-प्राप्ति के उपाय क्यों करेगा ? तब उसे स्वयं धन्वन्तरि भी निरोग नहीं कर सकेंगे। परिग्रह के विषय में हमारी धारणा भी कुछ ऐसी ही बन गई है। बड़प्पन के दम्भ की रक्षा के लिये हमने परिग्रह की परिभाषा ही बदल ली है। उसे पापों की सूची से निकाल ही दिया है। हम उसे "पुण्य का फल" मानने लगे हैं।

यह सब इसलिए सम्भव हो सका क्योंकि परिग्रह हम सबको प्रिय लगता है। आज उसी को हमने अपने जीवन का आधार और अपनी महानताओं का मान-दण्ड मान लिया है।

जो जितना क्रूर और हिंसक होगा वह समाज से उतना ही तिरस्कृत होगा। झूठ बोलने और चोरी करने की जिसमें आदत होगी उसे भी हम अपने से दूर ही रखेंगे। कुशील जिसके जीवन में होगा वह अवश्य निन्दा का पात्र बनेगा। परन्तु परिग्रह के बारे में हमारे नियम बिलकुल अलग हैं। जिसने जितना अधिक जोड़ रखा होगा उसे उतना ही ऊंचा आसन हमारे बीच मिलेगा। उसके गले में उतनी ही मोटी माला हम पहनायेंगे।

हमारी लोलुपता ने कुछ ऐसा वातावरण बना दिया है कि पांच पाप अब सिर्फ शास्त्रों में लिखे रह गये हैं, व्यवहार में वे चार ही बचे हैं। परिग्रह हमारी मान्यता में पाप रहा ही नहीं। वह तो अब पुण्य का फल है। वह जितना बढ़ता जाता है, उसे धारण करने वाला उतना ही बड़ा पुण्यात्मा कहलाने का अधिकारी हो जाता है।

यदि अपने हस्तिनापुर को निष्पाप बनाना है, यदि पापों का एक अंश भी छोड़ना है, तो परिग्रह के बारे में हमें अपने समीकरण बदलने होंगे। परिग्रह के दंश को पहचानना होगा। परिग्रह-प्रियता से प्राप्त होने वाली मानसिक व्याधियों को दृष्टि में रखना होगा और परिग्रह की सीमाओं को समझना होगा।

कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि यदि उनके पास पर्याप्त धन है तो वे उसके द्वारा सब कुछ खरीद सकते हैं। उनका सोच कई बार सही भी दिखाई देता है, क्योंकि हम अनुभव करते हैं कि सचमुच आज पैसे के

द्वारा सब कुछ तो उपलब्ध है। आदमी का तन और मन, उसका दीन और ईमान सब कुछ किसी जिंस की तरह रोज तो बेचा और खरीदा जा रहा है। परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। अभी बहुत कुछ ऐसा है जो पैसे से नहीं खरीदा जा सकता। उदाहरण के लिए—

— हम धन के माध्यम से वस्तुएं खरीद सकते हैं, परन्तु तृप्ति नहीं खरीद सकते।

— संसार की सारी सम्पदा के बदले भी संतोष नहीं खरीदा जा सकता।

— भोजन खरीदा जा सकता है, किन्तु भूख नहीं खरीदी जा सकती।

— औषधियां खरीदी जा सकती हैं, परन्तु स्वास्थ्य नहीं खरीदा जा सकता।

— हर्ष और खुशियां शायद खरीदी भी जा सकती हैं, परन्तु सम्पदा के बदले आनन्द नहीं खरीदा जा सकता।

परिग्रह की ये कुछ सीमाएं यदि दृष्टि में रहें तो हमें उसकी तुच्छता का बोध हो सकता है।

जोड़ने और जोड़ते ही चले जाने की धुन कभी किसी को सुखी नहीं बना पाई। परिग्रह ने जब दी है तब प्यास ही दी है, तृप्ति देने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। परिग्रह की वांछा आकुलताओं को जन्म दे सकती है, परन्तु अनाकुलता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। परिग्रह की लालसा व्यक्ति को दौड़ाती बहुत है, परन्तु वह पहुंचाती कहीं नहीं। यही परिग्रह की यथार्थता है।

मूर्च्छा छोड़नी होगी

परिग्रह हमारे दुखों का वास्तविक कारण नहीं है। दुखों का वास्तविक कारण तो हमारे मन में पलने वाली आकांक्षाएं हैं। मन की आशा और तृष्णा से दुखों की फसल तैयार होती है। आकुलताओं के अम्बार लग जाते हैं। इसलिए अपनी पीड़ा कम करने के लिए परिग्रह छोड़ने से पहले परिग्रह के प्रति अपने मन की मूर्च्छा छोड़नी होगी। यदि इच्छाएं सीमित हो जायें तो आकुलताओं की भी सीमा बंध जायेगी। आकांक्षाएं ही जीवन की सरिता में पाप का प्रदूषण फैलाती हैं। यदि उन पर अंकुश लगाया जा सके तो इस धारा में निर्मलता आ सकती है।

परिग्रह की आसक्ति छोड़े बिना जो लोग परिग्रह छोड़ बैठते हैं, उनके संक्लेश घटते नहीं हैं, और-और बढ़ते जाते हैं। ऐसे लोगों के लिए किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

> **गेह तज्या तो क्या तज्या, राग तज्या नहिं वीर,**
> **सांप तजै ज्यों केंचुली, विष नहिं तजत शरीर।**

क्या परिग्रह पुण्य का फल है ?

पुण्य कर्म और पुण्य के फल को लेकर बहुत भ्रान्तियां पाली गई हैं। कर्मों को शुभ और अशुभ में, अथवा पुण्य और पाप में बांटकर कहा गया है। परन्तु धन-सम्पदा दिलाने वाला कोई कर्म या प्रारब्ध कहीं नहीं कहा गया। अच्छे संयोगों से, और अनुकूल पुरुषार्थ से, सम्पत्ति प्राप्त होती है, बनी रहती है, और उसमें वृद्धि होती रहती है। विपरीत संयोगों और प्रतिकूल पुरुषार्थ से, सम्पत्ति अस्थिर हो जाती है, क्षीण होने लगती है और नष्ट हो जाती है। इसका पुण्य से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।

धन-सम्पदा की प्राप्ति बहुत लोग पाप के मार्ग से भी करते हैं। आज समाज में अनैतिकता के जो अतिरेक जगह-जगह दिखाई दे रहे हैं, वे अधिकतर अनैतिक कमाई के ही परिणाम हैं। जुआ, वेश्यावृत्ति, लूट-खसोट, डाकेजनी, राष्ट्रद्रोह, स्मगलिंग और इसी प्रकार के अनेक अवैधानिक तरीकों से अर्जित सम्पत्ति को पुण्य का फल कैसे कहा जा सकता है ?

पुण्य और पाप की परिभाषा को जन-जमीन और धन-सम्पत्ति के साथ जोड़ने पर और भी कई तरह की विसंगतियाँ सामने आयेंगी। तब लक्ष्मीपति अधिक पुण्यात्मा सिद्ध होंगे और त्यागी-संन्यासी उनसे कम पुण्यात्मा ठहरेंगे, क्योंकि उनके पास कोई सम्पत्ति नहीं होती।

जिसे पुण्य कहा गया है उसका फल पदार्थों का संयोग-वियोग नहीं है। पाप का फल भी पदार्थ का, या प्राणियों का मिलना-बिछुड़ना नहीं है। पाप और पुण्य की सही परिभाषा यही है कि पुण्य के उदय में हम सुखी और संतुष्ट होते हैं। पुण्य प्रसन्नता और आनन्द का अनुभव कराता है। इसके विपरीत, पाप के उदय में हम असंतुष्ट और दुखी रहते हैं। पाप का उदय चिन्ता, आकुलता, विषाद और मनहूमी का अनुभव कराता है।

पुण्य-पाप का गणित बहुत सरल है। सबके लिये शुभ का चिन्तन करने से, शुभ कार्य करने से, और अपने जीवन को निष्पाप तथा पवित्र रखने से पुण्य की प्राप्ति होती है। आगे चलकर उसका अच्छा फल मिलता है। दूसरों का अशुभ चिन्तन करने से, अशुभ कार्य करने से, और अपने जीवन को उच्छृंखल तथा अपवित्र बनाने से पाप की प्राप्ति होती है। जब उसका परिपाक होता है तब उस पाप का वैसा ही दुखद फल भोगना पड़ता है।

कौन उगाता है पुण्य की फसल ?

सबसे विचित्र बात यह है कि इतना सब जानते हुए भी जगत के सारे जीव पुण्य की फसल प्राप्त तो करना चाहते हैं, परन्तु पुण्य के बीज बोना कोई नहीं चाहता। कथनी में हम चाहे रोज दोहराते रहें परन्तु करनी के समय यह भूल जाते हैं कि – "जो जैसा बोयेगा उसे वैसी ही फसल काटना भी होगी।"

हर जन्म में हम पाप के बीज बोते रहे, और उसके फल स्वरूप हर जन्म में दुखों, संक्लेशों और विपत्तियों की फसल काटते रहे। यह जिन ग्रामों की सनातन परम्परा है, उन ग्रामों का नाम है–"हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह"।

शान्तिकामी कृष्ण के प्रस्ताव पर विचार करके यदि हम इन पांच पाप-ग्रामों को त्याग सकें तो पंच-अणुव्रत की उस पवित्र भूमि का स्वामित्व हमें प्राप्त हो सकता है, जहां पुण्य की फसल बोने तथा साता, संतोष और आनन्दानुभूति की फसल काटने की परम्परा है। यही वह भूमि है जिस पर खड़े होकर हम अपनी आत्मा के अधिक निकट होते हैं। वहीं पर अपने ईश्वर की कृपा प्राप्त कर लेते हैं और उसका सान्निध्य प्राप्त करते हैं।

कल्पनाओं का फैलाव ही परिग्रह है

परिग्रह का अर्थ है अपने आपको बाहर की ओर फैलाना। अपने को पर से जोड़ना। जहाँ मैं नहीं हूं वहाँ अपने होने की कल्पना करना। जो मेरा नहीं है उसमें मेरे-तेरे की कल्पना करना। अपने को पर के साथ जोड़ते जाना ही परिग्रह है। फैलाना अच्छा लगता है हमें। व्यापारी

अपनी दुकान फैलाता है। विस्तृत विज्ञापनों के जरिये जहाँ नहीं है वहाँ पहुँचना चाहता है। कलाकार अपनी कला का विस्तार करता है। वक्ता अपनी बात को विस्तार देता हुआ फैलाता है। मित्र और शत्रु बनाकर जीव अपने राग-द्वेष को फैलाता रहता है। लगता है संसार में सब फैलाने में ही लगे हैं। सचमुच फैलाना एक कला है। परन्तु संत कहते हैं — समेटना उससे भी बड़ी कला है।

हर फैलाव का अंतिम लक्ष्य समेटना ही होता है। फैलाने में श्रम है, विकल्प है, तर्क-वितर्क हैं। समेटने में कोई ऊहापोह नहीं है। वहां कोई आशंका नहीं है। फैलाने का पुरस्कार समेटने में ही निहित है। व्यापारी दुकान का फैलाव समेटे बिना रात्रि में सो नहीं सकता। बाहर से अपने में लौटे बिना आराम नहीं कर सकता। कलाकार अपने विस्तार के केन्द्र में अपने कथ्य को रेखांकित करके ही संतुष्ट हो पाता है। उसकी सार्थकता परिकर के बिखराव में नहीं, अभिप्राय के केन्द्र में है। वक्ता का विस्तार श्रोता को अभिप्रेत की ओर ले जाने का एक प्रयास मात्र है। सारे विस्तार को समेट कर मूल विषय पर समापन करना ही वक्ता की सार्थकता है।

मैंने भी असंख्य पदार्थों से राग करके अपने आपको बहुत फैलाया है। जो कुछ बीत गया, समाप्त हो गया, उस अतीत के कितने राग-द्वेष मेरे मन में पल रहे हैं। पनप रहे हैं। वर्तमान में तो मेरी आकांक्षाओं की कोई सीमा ही नहीं है। जगत की सारी सम्पदा को अपने लिये सुरक्षित पाकर भी मैं संतुष्ट हो ही जाऊंगा ऐसी कोई गारण्टी नहीं है। और भविष्य के लिये इतने संकल्प-विकल्प मेरे पास हैं कि उन सबकी कल्पना करने के लिये मेरा यह जनम छोटा पड़ जायेगा। रैन बीत जायेगी पर सपना पूरा नहीं हो सकेगा। कामनाओं का यह अनन्त विस्तार ही वास्तविक परिग्रह है। जीवन में निराशा और अशान्ति का झरना इसी विस्तार में से फूटता है। मेरे सारे क्लेश यहीं से उत्पन्न हो रहे हैं।

असीम आकांक्षाओं के वशीभूत होकर, कामनाओं की महाज्वाला में झुलसते हुए, मैंने अपना विशद संसार बसाया। परन्तु वह मन को सुख का तनिक सा भी संवेदन नहीं दे पाया। उल्टे उसके संरक्षण की आकुलता, तथा और अधिक पाने की लालसा, मेरे मन को निरन्तर दाह ही देती रहीं। क्या सम्पदा के साथ संतोष का कोई रिश्ता है ? क्या ऐश्वर्य के साथ अनाकुलता का दूर का भी कोई सम्बंध है ? नहीं।

अप्राप्त को पाने की लालसा की दाह बहुत दुखद है, परन्तु मनचाहा प्राप्त कर लेने पर उसे बनाये रखने की चिन्ता, उससे भी अधिक दुखद है। उसकी दाह तो अनन्त है।

यही दाह संसार का सबसे बड़ा दुख है। छोटा और बड़ा, मूरख और विद्वान, निर्धन और धनी, सभी इसी पीड़ा से पीड़ित हैं। इसी दाह में दग्ध हो रहे हैं।

क्लेश उत्पन्न करने वाली अनंत आकांक्षाएं सबके मन में हैं, परन्तु निराकुलता और सुख-शान्ति को उत्पन्न करने वाला संतोष यहां किसी के पास नहीं है। अनासक्ति और संतोष के बिना सुख की कल्पना ही व्यर्थ है। अपनी कल्पनाओं के विस्तार को समेटे बिना यह संभव ही नहीं है।

सहज है समेटना

जो ठान लेते हैं उनके लिये अपने आपको समेटना सहज हो जाता है आशंका और चिन्ता तो फैलाते समय होती है। समेटने में क्या आशंका, कैसी चिन्ता। फैलाव एक यात्रा है बाहर की ओर। समेटना अपने भीतर की ओर लौटने का सफर है।

जाड़े की सुबह कछुआ नदी किनारे धूप में आ जाता है। चारों तरफ सतर्कता से टटोल-टटोल कर वह अपने हाथ पैर और सिर बाहर निकालता है। पग-पग पर आशंकित और क्षण-क्षण सावधान। फिर अकस्मात कहीं कोई आहट होती है और वह अविलम्ब अपने आपको अपने खोल के भीतर समेट लेता है। इस समेटने में कोई आशंका नहीं, कोई भय नहीं। किसी सतर्कता, किसी सावधानी की आवश्यकता नहीं। अपने भीतर लौटने में कैसा भय, किसकी आशंका। वह तो मेरा अपना जाना-पहचाना घर है। वही तो मेरा चिरंतन आश्रय है।

अभी समय है कि अपने को समेटा जा सकता है। इस सारे फैलाव में से अपने आपको सुरक्षित निकाला जा सकता है। फैलाव में सबको आकुलताएं ही मिली हैं। उनमें सुख-साता और संतोष किसी को नहीं मिला। महावीर ने भीतर-बाहर से अपने आपको पूरी तरह रिक्त कर लिया तभी से महावीर बन पाये। इस समेटने की कला में जो पारंगत होते हैं वे ही मानवता को मार्ग दिखाते हैं। वे ही महापुरुष हैं।

हम जिस विशाल सृष्टि के अंग हैं, वह जड़ और चेतन दो प्रकार के पदार्थों से बनी है। ईश्वरत्व की सारी शक्तियां अपने आप में समेटे हुए प्रत्येक प्राणी, विकारी होकर इस सृष्टि में भ्रमण कर रहा है।

परन्तु विकारी होकर सुख-दुख में संक्लेशित होते रहना मेरा स्वभाव नहीं है। सुख-दुख दोनों मानसिक रोग हैं। यदि किसी प्रकार अपना सही ऐश्वर्यशाली स्वरूप मैं पहिचान सकूं, अपने भीतर रोग की तरह उपजते हुए विकारों को जान सकूं, और इस विश्व की व्यवस्था को वास्तविक रूप से समझ सकूं तो विकारों और वासनाओं में से अपने आपको समेटना आसान हो जायेगा।

कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को जिस मोह-निद्रा से जगाने का उपाय गीता-गायक ने किया था, अविद्या ही वह मोह-निद्रा थी। उसका मूल-कारण दृश्य का विकास नहीं, दृष्टि का अभाव था। यही दृष्टि-हीनता "मिथ्यात्व" है। उसका अंधेरा कटे बिना, विश्व की बात तो दूर, मनुष्य अपने आपको भी नहीं पहचान सकता।

स्व-पर विज्ञान का प्रकाश फैलते ही अविद्या का अंधकार अवश्य हटेगा। यह विज्ञान प्राप्त करने के लिये संतों ने सबसे पहले माया पर आघात किया है। जीव को प्रलोभित करके विकारी बनाने वाली माया ही है। माया के कोहरे में बड़े-बड़े साधक भटक जाते हैं। अपने आपको पहचानने के लिये माया को पहचानना बहुत आवश्यक है।

□

विराट् का दर्शन

माया महाठगिनि हम जानी

संतों ने बार-बार प्रयास करके हमें इस विश्व की व्यवस्था समझाने की चेष्ठा की है। अपने अनुभव से जाने हुए उसके रहस्य हमें उपलब्ध कराये हैं। इस बात पर प्रायः सभी संत एक मत हैं कि संसार मायामय है और यह माया ही जीव को चार गतियों की चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कराती है। इसी माया को अविद्या भी कहा गया है। अविद्या के नाश हो जाने पर ही जीव की मुक्ति मानी गई है।

माया के स्वरूप को लेकर दर्शनशास्त्रों में अनेक व्याख्यायें की गई हैं। कहीं उसे स्वप्नवत्, एक भ्रम-मात्र कहा गया है, जिसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। कहीं उसे प्रकृति की लीला के रूप में व्याख्यापित किया गया है। माया को कहीं परब्रह्म परमात्मा का ही विलास कहा गया है। प्रायः इन सभी व्याख्याकारों ने माया से निर्मित इस विश्व को ईश्वर के उपादान में, ईश्वर की इच्छा से, ईश्वर के ही द्वारा निर्मित बताया है।

जैनाचार्यों ने विश्व को नित्य, परिवर्तनशील और उत्पन्न-ध्वंसी स्वभाव वाला माना है। दो द्रव्यों के सहयोग से स्वतः निर्मित यह सृष्टि जीव और पुद्गल की अनादि संरचना है। जड़-चेतन से रचित यह संसार, चेतन और अचेतन द्रव्यों की मिली-जुली परिणति है। अपनी अशुद्धि के कारण चेतन-स्वभाव वाला जीव इस जड़-स्वभाव वाले पुद्गल के साथ मिलकर अनेक असमान-जातीय रूपाकार ग्रहण करता है। यही दोनों इस चर और अचर लोक की रचना करते हैं।

अपनी अशुद्धि के कारण पुद्गल-द्रव्य जीव के प्रारब्ध के अनुसार उसके स्थूल-शरीर के रूप में ढल जाता है। संचित कर्म के रूप में वही सूक्ष्म शरीर आदि का रूप धारण करके जीवों के संसार परिभ्रमण में निमित्त बनता है। मोह-माया के वशीभूत, अनादिकाल से विकारी बना

यह जीव, उन बंधनों में बंध जाता है। जैनाचार्य संसार को इसी प्रकार चेतन और अचेतन द्रव्यों की विकारजन्य परिणति स्वीकार करते हैं। उसके निर्माण के लिये, या संचालन के लिये किसी ईश्वरीय शक्ति को उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

सृष्टि का निर्माण ईश्वर ने किया है, या वह अनादिकाल से स्वतः निर्मित है, और जड़-चेतन तत्वों के सहज परिणमन से चल रही है, इस विषय पर बहुत दार्शनिक ऊहा-पोह हुई है। इस उलझन को सुलझाने के लिये बड़े-बड़े शास्त्रार्थ हुए। बड़े-बड़े ग्रंथों की रचना हुई। इस सिद्धान्त के खण्डन और मण्डन का सिलसिला शायद सृष्टि के प्रारम्भ से ही चल रहा है। कम से कम निकट भविष्य में उसका कोई सर्वमान्य समाधान निकल सकेगा ऐसी भी आशा नहीं करनी चाहिए।

इस संबंध में गोस्वामी तुलसीदास जी का कथन सार्थक लगता है कि जड़ ओर चेतन के बीच में एक गांठ लग गई है। यद्यपि यह गांठ अवास्तविक है, भ्रमरूप है, फिर भी बड़ी कठिनाई से ही उसका खुलना सम्भव है—

जड़-चेतनहिं ग्रन्थि परि गई
जदपि मृषा, छूटत कठिनई।

—रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड/117

हमारे हानि-लाभ

सृष्टि के कर्तृत्व का निराकरण करने का यहां हमारा कोई संकल्प नहीं है। हम इस ऊहा-पोह पर मात्र इस दृष्टि से विचार करेंगे कि यदि ऐसा माना जाये कि —"सृष्टि का निर्माण ईश्वर ने किया है" तो हमें क्या लाभ-हानि होगी ? इसी प्रकार यदि यह माना जाये कि "मायामयी यह संसार छह द्रव्यों के, अथवा पंचमहाभूतों के सहज संयोग से, प्राकृत रूप से, स्वतः निर्मित और स्वतः संचालित है" तो इस मान्यता से हमारे हानि-लाभ क्या होंगे ?

यह बात गम्भीरतापूर्वक ध्यान देने योग्य है कि यह सृष्टि वास्तविक हो या स्वप्नवत् अवास्तविक हो, इसे ईश्वर ने इच्छा और संकल्पपूर्वक रचा हो या यह एक अनादि-अनन्त प्राकृत संरचना हो, दोनों ही स्थितियों में इससे जीव को, यानी हमें, अकारण कोई

हानि-लाभ नहीं होता। जिन्होंने संसार को दुख रूप कहा है उन्होंने भी जीव के लिये इस संसार में अकारण किसी दुख का विधान नहीं किया।

वन में जिस प्रकार शिकारी अपने जाल फैला देते हैं और भोले पशु-पक्षी उसमें फंसकर भूख-प्यास आदि की पीड़ाएं सहते हुए अपने जीवन का अंत कर लेते हैं, उसी प्रकार यह मायामयी संसार किसी ने बना सजाकर रखा हो ताकि भोले प्राणी अकारण इसमें फंसते रहें और जन्म-मरण के दुख उठाते रहें, किसी भी दर्शनशास्त्र में संसार का ऐसा स्वरूप निरूपित नहीं किया गया। अतः यह बात स्पष्टतः सिद्ध है कि संसार जैसा भी है, और जिसने भी इसे बनाया है, वह हमें क्लेश और पीड़ा देने के लिये न तो स्वतः बना है और न ही उस अभिप्राय से किसी ने उसकी रचना की है। तब फिर यह समझना तो शेष रह ही गया कि संसार में आज हमारी जो स्थिति हो रही है, हम जो कष्ट और क्लेश भोग रहे हैं, उसका उत्तरदायी कौन है ?

एक प्रश्न यह भी उठता है कि यदि यह संसार माया से निर्मित और पूरी तरह अवास्तविक ही है, और उसी माया के कारण जीव इसमें जन्म-मरण के दुःख उठाते हुए भटक रहे हैं तो क्या इससे निकलने का कोई भी उपाय जीव के हाथ में है ? यदि कोई उपाय है तो वह क्या है? कैसे हम इस दुखद संसार-चक्र से बाहर निकल सकते हैं।

दुनिया एक अजायबघर है

हम इस संसार की तुलना किसी बड़े म्यूजियम से, किसी बड़े अजायबघर से कर सकते हैं। अजायबघर में रखी विचित्र वस्तुओं की तरह संसार की हर वस्तु अपने आप में विचित्र है। यहां छोटी से छोटी संरचना के भीतर प्रकृति के बड़े-बड़े रहस्य छिपे हुए हैं। इस सृष्टि में निरंतर उत्पत्ति और विनाश का चक्र चल रहा है परन्तु इस चक्र की गति ऐसी लयबद्ध है, ऐसी संतुलित है कि अनवरत् उपजता और विनशता हुआ भी यह संसार शास्वत् बना रहता है। संग्रहालय की तरह वह अपने ही नियमों से संचालित होता है। हमारे जैसे अनगिनते दर्शक निरन्तर उसकी विचित्रताओं का आनन्द लेते रहते हैं। संग्रहालय में घूमना, वहां रखी हुई वस्तुओं को देखना और उनकी विशेषताओं की चर्चा करके आनन्दित होना, अपराध नहीं है। रोज लाखों लोग दर्शक बनकर संग्रहालय में जाते हैं परन्तु उनमें किसी को

इसके लिये दण्डित नहीं किया जाता। उसके कारण किसी भी दर्शक को दुख और क्लेश नहीं भोगना पड़ता।

यह बात अवश्य है कि कोई दर्शक स्वयं अपनी सीमाओं का उल्लंघन करने लगे, संग्रहालय के नियमों की अवहेलना करके वहां अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करना चाहे, तो उसे निराशा, दुखः, क्लेश और दण्ड भोगना पड़ सकता है। जो चाहेगा कि संग्रहालय उसकी सुविधा के अनुसार समय से पूर्व खुल जाये, या निर्धारित समय के बाद तक खुला रहे, या अवकाश के दिन खुल जाये, तो सामान्यतः ऐसा होगा नहीं और चाहने वाले को निराश होना पड़ेगा। कोई चाहे कि जो वस्तु उसे प्रिय लगती है वह केवल उसी के लिये आरक्षित हो, दूसरे दर्शकों को उसका दर्शन वर्जित घोषित कर दिया जाये, तो सामान्यतः ऐसा होगा नहीं और चाहने वाले को क्लेश और पीड़ा का अनुभव करना पड़ेगा।

संग्रहालय में प्रदर्शित वस्तुएं एक निश्चित योजना के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं। संरक्षण और सुरक्षा की दृष्टि से भी उन्हें स्थानान्तरित करने की आवश्यकता पड़ती है। अब कोई चाहे कि जिस वस्तु को उसने जहां, जिस स्थिति में देखा है और पसन्द किया है, वह वस्तु वहीं, उसी स्थिति में, जब तक वह चाहे तब तक रखी रहे, तो सामान्यतः ऐसा होगा नहीं। वस्तुओं का प्रदर्शन संग्रहालय की योजना के अनुसार ही होगा और दर्शक को अपनी अपूर्ण इच्छा के लिये संक्लेशित होना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि कोई पागल दर्शक ऐसा समझ बैठे कि उसने टिकिट लेकर संग्रहालय में प्रवेश किया है इसलिये वहां प्रदर्शित वस्तुओं पर उसका अधिकार हो गया है, वही उनका स्वामी है, ऐसी भ्रमित धारणा बनाकर यदि वह संग्रहालय की किसी वस्तु को उठावे, उसे तोड़ने-फोड़ने की कोशिश करे, या उसे घर लाना चाहे तो सामान्यतः ऐसा होने नहीं दिया जायेगा। ऐसे दर्शक के आचरण को अपराध माना जायेगा और उसके लिए उसे दण्ड का भागीदार बनना पड़ेगा।

देखना निरापद : छूना अपराध

इस संसार की स्थिति भी संग्रहालय जैसी ही है। चाहे इसे ईश्वर ने सुरुचिपूर्वक बनाया हो और वही उसका संचालन करता हो, चाहे

वह स्वतः स्वभाव से निर्मित हो और स्वतः संचालित हो रहा हो, परन्तु यह जैसा भी है अपनी जगह बहुत खूब है। इसके रहस्य हमारी जिज्ञासाओं को उत्तेजित करते हैं। इसकी विचित्रताएं हमें आनन्दित करती हैं या कर सकती हैं, परन्तु यह तभी सम्भव है जब हम एक ईमानदार दर्शक की तरह, दूर से ही उनके बारे में विचारते रहें या उन्हें देख-देखकर आनन्दित होते रहें।

अपनी सीमा लांघकर यदि हम इस विश्व को अपनी इच्छानुसार संचालित करने का संकल्प करें, इसकी संरचना में विसंगतियां पैदा करने की कोशिश करें, इसके पदार्थों में से किसी को प्रिय मानकर अपने समीप रखना चाहें, और किसी को अप्रिय मानकर दूर फेंकने की चेष्टा करें, तो निश्चित ही इस विश्व की व्यवस्था में वह हमारी अनधिकार चेष्टा होगी। अवश्य ही इसके लिये हमें दण्डित भी होना पड़ेगा।

विश्व बहुत विशाल है। वह क्षितिज और समय की सीमा के परे तक फैला हुआ है। हम भी किसी से कम नहीं हैं। इस जनम् और मरण के पूर्व और पश्चात् भी हमारा ऐसा दीर्घ अस्तित्व है जो काल की किसी भी सीमा को स्वीकार नहीं करता। तब ऐसी हालत में यही होगा कि हम अपने राग-द्वेष और मोह के नशे में होश-हवास खोकर, किसी संग्रहालय के किसी पागल दर्शक की तरह, सृष्टि के साथ छेड़खानी करते रहेंगे। इसके फलस्वरूप हमारा वर्तमान दुख और क्लेश से पीड़ित रहेगा और हमारा भविष्य अपने ही द्वारा किये गये उन अपराधों के दण्ड भोगने में व्यतीत होता रहेगा। अनादिकाल से हमारे साथ यही तो हो रहा है।

क्रिया और प्रतिक्रिया

जिन दार्शनिक पद्धतियों में माया को ही जीव के लिये बंधन की संज्ञा दी गई है, या उसका कारण कहा गया है, उनके यहां भी वास्तविक व्याख्या लगभग ऐसी ही है जैसी ऊपर संग्रहालय के उदाहरण से हमने समझी है। उन्होंने भी भक्ति की भाषा में भले ही कहा हो कि इस सृष्टि का रचने वाला तथा जीव के लिये सुख-दुख का विधान करने वाला ईश्वर है, परन्तु दार्शनिक विश्लेषण में सर्वत्र विश्व की व्यवस्था को स्वतंत्र, स्वाभाविक या प्राकृतिक ही स्वीकार

किया गया है। जड़ तथा चेतन दोनों सक्रिय पदार्थ हैं। "क्रिया" जब होती है तब उसकी "प्रतिक्रिया" भी होती है, यह विज्ञान का अटल नियम है। सारे दर्शन-शास्त्रों में इस नियम को स्वीकार किया गया है। विश्व-व्यवस्था में र्स्वत्र यह माना गया है कि हर प्राणी को अपने किये हुए कर्मों का फल भोगना पड़ता हैं।

क्या ईश्वर सुख-दुख का दाता है ?

हमारे पास मूल रूप से तीन शक्तियां हैं—मन, वाणी और शरीर। हम अपना और दूसरों का जो भी भला या बुरा करना चाहते हैं, वह इन्हीं तीन शक्तियों के माध्यम से करते हैं। पिछले जीवन से संचित करके लाई हुई वासनाएं हमारे मन, वाणी और शरीर की क्रिया को प्रभावित करती हैं। इन्हीं कारणों से हमारे भीतर राजसी, तामसी और सात्विक प्रवृत्तियों का उदय होता है। इस वासना-प्रेरित प्रवृत्ति को ही "त्रिगुणात्मिका-प्रकृति" कहा गया है।

जन्म-जन्मान्तरों से, हमारा स्वयं का अर्जित किया हुआ जो कर्म हमारे साथ लगा है उसे "संचित-कर्म" कहा गया है। इस संचित कर्म में से जितना उदय में आकर वर्तमान में हमें अपना फल देने वाला है वह "प्रारब्ध" कहा गया है। अपने मन, वाणी और शरीर की क्रियाओं के फलस्वरूप निरन्तर हम जो नवीन कर्म बांध रहे हैं वह "क्रियमाण" कहलाता है।

इस प्रकार कर्म या प्रारब्ध के उदय से प्रेरित हुआ जीव रजोगुण, तमोगुण और सत्वगुण वाली तीन प्रकार की प्रवृत्तियों में लगा हुआ अपनी पूर्वोपार्जित वासनाओं को भोगता रहता है। अपनी मन-वाणी और कर्म की इन प्रवृत्तियों में, अविद्या के संस्कार-वश जीव को राग और द्वेष होते रहते हैं। कुछ प्रर्वृत्तियां जीव को प्रिय लगती हैं, कुछ अप्रिय लगती हैं। प्रिय को वह बार-बार दोहराता है और बहुत समय तक करता रहना चाहता है। अप्रिय कर्म से वह बचना चाहता है। कभी मजबूरी में करना भी पड़े तो वह आगे उससे बचना चाहता है। अपने क्रियमाण में इसी प्रिय-अप्रिय की भावना से, इन्हीं राग-द्वेष के कारणों से, उसे नवीनं कर्मों का बंध होता रहता है। ये निरन्तर बंधने वाले कर्म जीव की सत्ता में वृद्धि करते रहते हैं। इसके "संचित" का भार बढ़ाते रहते हैं।

सारांश यह कि जीव को अपने ही कमाये हुए कर्मों का फल भोगना पड़ता है। कर्मफल भोगते हुए, राग-द्वेष परिणति के कारण वह नवीन कर्म अपने साथ बांधता चलता है। ये कर्म प्रारब्ध बनकर निरन्तर उसके उदय में आते रहते हैं। उदय को भोगते समय होने वाले तात्कालिक राग-द्वेष उसके लिये पुनः कर्म-बंध का कारण बनते हैं। अनादि से यही क्रम चल रहा है। जीव स्वयं अपनी करनी का फल भोग रहा है। कोई करे और किसी अन्य को उसका फल भोगना पड़े, ऐसा कभी नहीं होता। न लौकिक में, न परमार्थ में।

इसी तरह पाप का कार्य करने वाले को पुण्य का फल दे सके, और पुण्य का कार्य करने वाले को पाप का फल दे सके ऐसा कोई ईश्वर नहीं होता। हो ही नहीं सकता। जो जैसा करेगा उसे वैसा ही फल स्वयं प्राप्त होगा। उसे वह भोगना ही पड़ेगा। यही सृष्टि का स्वतः सिद्ध, सहज, स्वाभाविक नियम है। यह क्रिया और प्रतिक्रिया के निश्चित नियम पर आधारित एक वैज्ञानिक व्यवस्था है। इसमें अपवाद नहीं होते—

"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।"

जैसी करनी वैसी भरनी

रामचरित मानस में एक प्रसंग आता है। बनवासी राम चित्रकूट पहुंचे हैं। भरत उन्हें मनाने और वापस अयोध्या ले जाने के अभिप्राय से उनके पास आ रहे हैं। भरत को सेना और सेवकों के साथ आते देखकर अनेक जनों के मन में अनेक प्रकार की प्रतिक्रिया होती है। कोई उनकी नियत पर सन्देह करता है। कोई कुपित होकर उनका सामना करने को कमर कसने लगता है। लक्ष्मणजी भी एक क्षण के लिये विचलित हो उठते हैं। यहां तक तो ठीक, परन्तु देवराज इन्द्र भी भरत के आगमन को लेकर चिन्तित हो उठते हैं। वे सोचते हैं राम तो जग का कल्याण करने निकले हैं, पर यदि भरत के स्नेह में ये वापस लौट पड़े तो अन्याय का उन्मूलन करके न्याय की स्थापना का यह महान् कार्य फिर नहीं हो पायेगा।

इन्द्र अपने गुरु बृहस्पति से प्रार्थना करते हैं—"नाथ ! कुछ ऐसा कर दीजिये जिससे राम और भरत की भेंट ही न हो पावे। राम बहुत संकोची हैं। वे प्रेम के वशीभूत हो जाते हैं। भरत तो प्रेम के सागर ही हैं। दोनों का मिलाप हो गया तो श्रीराम कभी भरत का आग्रह टाल नहीं

मकेंगे। वे अयोध्या लौटने की स्वीकृति दे देंगे और हमारी बनती बात विगड़ जायेगी। अत: कोई छल भी करना पड़े तो कीजिये पर इनका मिलाप मत होने दीजिये—

राम संकोची, प्रेम बस, भरत सप्रेम पयोधि।
बनी बात बेगरन चहति, करिअ जतनु छलु सोधि।

और सुरेन्द्र की इस प्रार्थना पर देवताओं के गुरु बृहस्पति ने मात्र भगवान राम का स्वरूप बताकर ही देवराज की शंका का समाधान कर दिया—

—"भगवान तो समता भाव वाले हैं। उनमें न तो राग है, न द्वेष है। वे न किसी का पुण्य छीनते हैं, न किसी का पाप ग्रहण करते हैं। न किसी के गुणों से उन्हें तात्पर्य है, न दोषों से।"

जद्यपि सम, नहिं राग न रोषू,
गहहिं न पाप पुन्न गुन दोषू।

शायद यहीं किसी ने सुरगुरु से पूछ लिया होगा कि —"यदि भगवान का स्वरूप ऐसा राग-द्वेष रहित है तो फिर यह सृष्टि कैसे चलती है ? जीवों को सुख-दुख का देने वाला कौन है" ? इन्हीं जिज्ञासाओं का समाधान सुरगुरु ने अगली पंक्ति में किया—"यह विश्व कर्म-प्रधान है। यहां का नियम यही है कि "जो जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही उसका फल भी भोगना पड़ता है। यही सृष्टि का रहस्य है।"—

करम प्रधान बिस्व करि राखा,
जो इस करइ सो तस फलु चाखा।

—रामचरितमानस/अयोध्या काण्ड/217-18

भगवान कुछ नहीं करते—

जीव अपने भले-बुरे कर्मों का स्वयं कर्ता है और उनके शुभ-अशुभ फलों का स्वयं भोक्ता है। इस बात को गीता में भी पुष्ट किया गया है। गीता-गायक श्रीकृष्ण कहते हैं—"वह प्रभु न करता है. न कराता है।

न कर्तव्यं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफल-संयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते।।

—गीता/5-15

—"वह प्रभु न तो प्राणियों के कर्तापन को निधारित करता है, न कर्मों की करता है, और न कर्म-फलों का संयोग ही बैठाता है, बल्कि स्वभाव में स्थित प्रकृति के अनुसार ही सभी बर्तते हैं। जैसी जिसकी प्रकृति सात्विक, राजसी अथवा तामसी है, उसी स्तर से वह बर्तता है। प्रकृति तो लम्बी-चौड़ी है लेकिन आपके ऊपर उतना ही प्रभाव डाल पाती है, जितना आपका स्वभाव विकृत या विकसित है।"

—"प्रायः लोग कहते हैं कि करने-कराने वाला तो भगवान है। हम तो यंत्र हैं! हमसे वे भला करावें अथवा बुरा। किन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि "न वह प्रभु स्वयं करता है, न कराता है, और वह जुगाड़ भी नहीं बैठाता। लोग अपने स्वभाव में स्थित प्रकृति के अनुरूप स्वतः कार्य करते हैं। वे अपनी आदत से मजबूर होकर करते हैं, भगवान नहीं कराते।"

तब लोग कहते क्यों है कि भगवान करते हैं ? इस पर योगेश्वर बताते हैं—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यंति जन्तवः।।

गीता/5-16

—"जिसे अभी प्रभु कहा, उसी को यहां विभु कहा गया है क्योंकि वह सम्पूर्ण वैभव से संयुक्त है। प्रभुता एवं वैभव से संयुक्त वह परमात्मा न किसी के पाप कर्म को, और न किसी के पुण्य कर्मों को ही ग्रहण करता है। फिर लोग कहते क्यों हैं ? इसलिये कि अज्ञान के द्वारा उनका ज्ञान ढंका हुआ है। उन्हें अभी आत्म-साक्षात्कार सहित ज्ञान तो हुआ नहीं। वे अभी "जन्तु" हैं। मोहवश वे कुछ भी कह सकते हैं।"

— भगवद् गीता/अध्याय 5
श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया से प्रकाशित
यथार्थगीता/पृष्ठ 121-22

माया का स्वरूप

श्रीमद्भागवत् की धारा में, और रामायण आदि ग्रंथों में भी, दो प्रकार की माया की चर्चा की गई है। एक ईश्वरीय माया या प्राकृतिक माया, और दूसरी जीवकृत माया या "मन की माया।" ये व्याख्याएं

करते समय यह तथ्य स्पष्ट रूप से रेखांकित किया गया है कि ईश्वरीय या प्राकृतिक माया जीव के सुख-दुख का साक्षात् कारण नहीं है। जीव के सुख-दुख का कारण, उसकी स्वतः सृजित जीवकृत माया ही है। यही उसके पुण्य-पाप की जड़ है।

रामचरित मानस में गोस्वामीजी ने स्वयं भगवान राम के मुख से माया का स्वरूप कहलवाया है। विश्व की जटिल व्यवस्था की ऐसी सरल व्याख्या शायद अन्यत्र नहीं ढूंढ़ी जा सकेगी। एक ही चौपाई में महाकवि ने वह रहस्य प्रभु के मुंह से उद्घाटित करा दिया है—

मैं अरु मोर, तोर तैं, माया।
एहि बस कीन्हें जीव निकाया।।
गो-गोचर, जहँ लग मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई।।

—रामचरितमानस/अरण्यकाण्ड/14-15

इन पंक्तियों का अर्थ बहुत सरल है—"जीव ने संसार में दूसरे जीवों के साथ, या जड़ पदार्थों के साथ, मैं और मेरे का, तथा तू और तेरे का जो संबंध गढ़ लिया है, वही वास्तविक माया है। सृष्टि के समस्त जीव उन्हीं स्व-कल्पित संबंधों की मान्यता के कारण दुखी हो रहे हैं और अपने भविष्य के लिये भी संक्लेशों का सृजन कर रहे हैं। जो भी हमारी इन्द्रियों को सुहाता है, और हमारे मन को भाता है, वही सब तो माया है।" यह अंतहीन सिलसिला अनादिकाल से चल रहा है, और अनन्तकाल तक चल सकता है।

आर्षवाणी में भी यह बार-बार कहा गया है कि मन से बड़ा मनुष्य का कोई मित्र नहीं है। मन को साधकर ही मनुष्य नर से नारायण बनने का प्रयत्न कर सकता है। दूसरी ओर मन से बड़ा मनुष्य का कोई शत्रु भी नहीं है क्योंकि मन की विकृति ही उसे बड़ी विपदाओं में डाल सकती है। मन के माध्यम से बंध और मोक्ष दोनों साधे जा सकते हैं—

मन एव मनुष्याणां कारणं बंध-मोक्षयोः
गुणेषु सक्तं बंधाय, रतं या पुंसि मुक्तये।

—भागवत/।।

कबीर ने कहा—"माया तो मन से ही उत्पन्न होती है। सत, रज, और तम इन गुणों में माया का विलास है। पृथ्वी और जल आदि पंच

तत्वों के स्वरूप में जीव को उलझाने वाली यह मन की माया ही है—

मन ते माया ऊपजै, माया तिरगुण रूप।
पांच तत्व के मेल में, बांधै सकल सरूप।।

माया की महिमा सब गाते हैं। उससे बचने का उपदेश सब एक दूसरे को देते हैं, परन्तु माया के स्वरूप का निर्धारण कुछ कठिन है। माया को परखने का उपाय कोई बिरला ही कर पाता है। दृश्यमान जगत में दिखने वाले प्रकृति के मनोहर दृश्य माया नहीं है। माया तो मन की आसक्ति का नाम है। कबीर ने कहा—''जो मन को बांध ले, जो मन में बस जाये, वह माया है।''

माया माया सब कहैं, माया लखै न कोय।
जो मन से ना ऊतरै, माया कहिये सोय।।

जैनाचार्यों ने जीव को अज्ञानभाव से या मोहभाव से उत्पन्न, ''मैं और मेरे'' की कल्पना पर आधारित, इन अवास्तविक सम्बंधों को ''अहंकार'' और ''ममकार'' के नाम से कहा है। किसी दूसरे पदार्थ में ''यह मैं ही हूं'' ऐसी कल्पना कर लेना अहंकार है। किसी दूसरे जीव या पदार्थ में ''यह मेरा है'' ऐसी मान्यता ममकार है।

अहंकार और ममकार ही जीव के लिये दुख और क्लेश के जनक हैं। उसे सुख-दुख देने वाली अन्य कोई शक्ति इस विश्व में नहीं है। ये अहंकार और ममकार के द्वंद्व जीव स्वतः अपने में पैदा करता है। और उनके कारण सुखी-दुखी होता रहता है। यही उसकी ''निजकृत-माया'' है। इसे ही ''मन की माया'' कहा गया है। साधना के क्रम में सबसे पहले हमारे अहंकार और ममकार छूटना चाहिये।

माया का त्याग करने का संकल्प लेकर लोग स्त्री-पुत्र और परिवार को छोड़ देते हैं। घर और व्यापार का त्याग कर देते हैं। परन्तु इन सबके साथ जोड़ने वाली मन की सूक्ष्म आसक्ति नहीं छोड़ पाते। माया के आधार छूट जाते हैं परन्तु माया की डोर नहीं टूटती।

कबीरदास ने एक जगह कहा—''स्थूल माया को छोड़ना आसान है, परन्तु सूक्ष्म आसक्ति-रूप मन की माया को छोड़ना बहुत कठिन है। मन की झीनी माया बड़े-बड़े साधकों, ऋषि-मुनियों और पीर-पैगम्बरों को भी साधना से भ्रष्ट कर देती है। जिन्होंने इस झीनी माया पर विजय प्राप्त कर ली उनका स्थूल पदार्थों का त्याग करना

सार्थक हो यथा। ऐसा ही साधक संसार के दुखों के ऊपर उठकर सुख प्राप्त कर सकता है—

> मोटी माया सब तजें, झीनी तजी न जाय।
> पीर पैगम्बर औलिया, झीनी सबको खाय।।
>
> झीनी माया जिन तजी, मोटी गयी बिलाय।
> ऐसे जन के हृदय से, सब दुख गये हिराय।

गोस्वामीजी ने माया को ही सारे अनर्थों की जड़ बताते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि सारी मानसिक व्याधियों की उत्पत्ति माया से ही होती है—

> मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला,
> जेहि तें पुनि उपजहिं बहु सूला।
>
> —रामचरितमानस

उन्होंने कहा—"माया की दुर्जेय सेना संसार में सर्वत्र फैली हुई है। इस सेना को जीतना आसान नहीं है। अतृप्त काम ही इस सेना का सेनापति है और मायाचारी, छल तथा पाखण्ड उसके बलवान योद्धा हैं।

> व्याप रहेउ संसार महँ माया कटक प्रचण्ड,
> सेनापति कामादि, भट, दम्भ-कपट-पाखण्ड।

कबीर ने भी कामना को ही मन की माया निरूपित करते हुए कहा—"उसकी बात तो सब करते हैं पर उसे पहचानता कोई नहीं। वास्तव में मन की सारी कल्पना ही काम है। वही मन की माया है। इसी माया ने सारे संसार को ठगा है। जो छलिया इसविश्व-व्यापिनी माया से ऊपर उठकर एक बार उसे ठग ले यह प्रणम्य हो जाये—

> काम काम सब कोइ कहै, काम न चीन्है कोय
> जेती मनकी कल्पना, काम कहावै सोय।
>
> माया तो ठगनी भई, ठगत फिरै सब देस,
> जो ठग या ठगनी ठगै, ता ठग को आदेश।

रेशम का कीड़ा अपने ही भीतर से तंतु निकालकर अपने ऊपर लपेटता है। अंत में उसी बंधन में जकड़ा हुआ मृत्यु का ग्रास बनता है। इसी प्रकार जीव अज्ञान के कारण, या मोह बुद्धि के कारण अपने ही भीतर से द्वंद्व उपजाता है और उनकी गुंजलिकाओं में उलझता जाता है।

द्वंद्व अपने आप में दुखद हैं। उसकी शाखाएं-उपशाखाएं अनन्त हैं। इष्ट और अनिष्ट, प्रिय और अप्रिय, हितकर और अहितकर, सुन्दर और असुंदर, शत्रु और मित्र, सज्जन और दुर्जन, अच्छा और बुरा, मेरा और तेरा आदि-आदि न जाने कितने प्रकार के द्वंद्व हम अपने भीतर उपजाते हैं और उन्हीं में खोकर रह जाते हैं। यही द्वंद्व के जनक हैं। इन्हीं के वशीभूत होकर हम इस संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं।

संसार वास्तविक हो तो हमें कुछ देगा नहीं। स्वप्नवत् बिल्कुल मायाजनित हो तो हमारा कुछ लेगा नहीं। जीव के लिये अकारण दुख और क्लेश पहुंचाने वाले निमित्तों का सृजन दीनबंधु भगवान क्यों करेंगे ? प्रकृति तो चेतना रहित जड़ ही है। बहेलिये की तरह भोले प्राणियों को फंसाने के लिये माया का जाल बिछाना चाहिये, ऐसा संकल्प करने की चेतना भी प्रकृति के पास नहीं है। तब हम अपने दुखों और क्लेशों के लिये ईश्वरीय माया को, अथवा प्राकृतिक माया को कैसे दोष दे सकते हैं ? यह तो बिल्कुल निराधार अभियोग होगा।

हमें इस जन्म और मरण के कोल्हू में पेरने वाली माया तो हम स्वयं रचते हैं। उसके उपादान तो हमीं हैं। हमारे ही भीतर राग-द्वेष और मोह की लहरें उठती हैं जो हमें अशान्त कर देती हैं। वहीं अविद्या के वे चक्रवात उठते हैं जो हमारा सब कुछ तहस-नहस कर देते हैं। मन में उस माया का सृजन करते रहना, दूसरे जीवों में, या पर-पदार्थों में "मैं और मेरे" का सम्बंध बनाकर अहंकार और ममकार करते रहना, हमारी अपनी भूल है। यह तो हमारी अनादि की कुटेव है।

हम अपने मिथ्या-ज्ञान और मिथ्या पुरुषार्थ से "अहंकार" और "ममकार" उपजाते रहते हैं। वे अहंकार-ममकार ही हमारे ज्ञान और पुरुषार्थ को दूषित करके विषाक्त बनाते रहते हैं। रेशम के कीड़े की तरह, उन सबके बीच में फंसे हुए हम, बार-बार अपने विनाश की

प्रतीक्षा करते हैं। फिर हर बार नया जन्म लेकर, सर्वथा अनजाने परिवेष में, पुनः द्वंद्वों की वही फसल उगाने में लग जाते हैं।

साधन तो मिले हैं : संकल्प चाहिये

मनुष्य भव पाकर मन के मायाजाल को तोड़ना, आधि-व्याधि और उपाधि से थोड़ा ऊपर उठकर अविनश्वर सुख की दिशा में कदम बढ़ा लेना, बहुत कठिन नहीं है। तुलसीदासजी ने मनुष्य की देह को संसार सागर से तरने के लिये बेड़े के समान माना है। उस पर भी ईश्वर की भक्ति और सद्गुरु जैसी नौका का सहारा मिला हो तो फिर हमें और क्या चाहिये। इस जन्म में यह सब तो हमें मिला है। सिर्फ संकल्प की कमी है।

संतों ने तो कहा—"ऐसे दुर्लभ संयोग पाकर भी जो भव-सागर से उबरने का उपाय नहीं करते, उनकी समझ बुद्धिसंगत नहीं है। वे तो आत्मघात की राह पर जा रहे हैं। समय बीत जायेगा और उन्हें आगे जाकर दुख ही उठाने पड़ेंगें। पछतावा ही उनके हाथ रहेगा। यदि ऐसे प्रमादी लोग, अपनी कायरता छिपाने के लिये काल को, कर्म को, या ईश्वर को दोष दें तो वह दोषारोपण सम्यक् नहीं होगा"—

नर-तन भव-वारिधि कर बेरौ,
सनमुख मरुत अनुग्रह मेरौ।

तरनहार सद्गुरु दृढ़ नावा,
दुर्लभ साज सुलभ कवि पावा।

जो न तरै भव-सागर, नर, समाज अस पांई,
सो कृति-निन्दक, मंदमति, आत्माहन गति जाइ।

सो परत्र दुख पावई, सिर धुनि-धुनि पछताई,
कालहिं-कर्महिं-ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगाई।

वास्तविकता यही है कि अपनी भूल से हम दुख उठा रहे हैं, अतः अपने उत्कर्ष के लिये हमें स्वयं ही उद्योग करना होगा। कर्म ऐसे कृपालु नहीं हैं जो स्वयं हमें मुक्त कर दें। काल सदा अपनी गति से चलता है। वह हमारी सहायता के लिये रुकेगा नहीं। रहा ईश्वर, सो वह साक्षीमात्र है। उसे पुकारा जा सकता है, उसका सहारा लिया जा

सकना है, पर उसकी ओर बढ़ने का संकल्प तो हमें ही करना होगा। कदम तो हमें ही बढ़ाना होगा।

कठिन नहीं है दुविधा को तोड़ना

कोई सोता हुआ व्यक्ति सपने में देखे कि उसके बिस्तर में, और उसके कमरे में आग लग गई है, चारों ओर सब कुछ सुलग रहा है। हम कल्पना करें कि उस पूरे कमरे की आग बुझाने के लिये कितने पानी की आवश्यकता होगी ? एक बूंद भी नहीं चाहिये। किसी प्रकार उस व्यक्ति की निद्रा तोड़ देनी है। बस, इतना पर्याप्त होगा। और कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है।

नींद खुलते ही उसका सारा भय स्वतः समाप्त हो जायेगा। सारी आग, सारी तपन, और सारा धुआं न जाने कहां विलीन हो जायेगा। वह जो अभी-अभी जल मरने की विभीषिका से आतंकित था, जागते ही अपने सुरक्षा के प्रति आश्वस्त हो जाएगा। उसे एक सर्वथा नवीन शीतलता का अनुभव होगा।

मन की माया का आतंक भी ऐसा ही है। उसकी तपन भी इतनी ही काल्पनिक है। उस आतंक की आग को बुझाना भी इतना ही आसान है। केवल सृष्टि का रहस्य जानने की उत्कण्ठा चाहिये। संसार की वास्तविकता को समझने का कौशल चाहिये। अपनी मोह-निद्रा को नाश करने की भावना चाहिये।

मोह-निद्रा का अवसान होते ही व्यक्ति में सृष्टि के रहस्यों को समझने की पात्रता आ जाती है। कुरुक्षेत्र में वासुदेव कृष्ण ने विश्व-रूप दिखाकर अपने सखा को सृष्टि के उन्हीं रहस्यों का परिचय तो कराया था। आज भी साधक की मूल समस्या यही है। हमारे भीतर का अर्जुन भी हताशा ग्रस्त हो रहा है। बार-बार संसार और शरीर के स्वभाव का चिन्तन ही उसमें कर्मठता का संचरण कर सकता है। विश्व की वास्तविकताकी अवधारणा ही उसके लिये आगे का पथ प्रशस्त कर सकती है।

सृष्टि की यथार्थता को समझने के लिये संतों ने जो दृष्टिकोण अपनाए हैं उन्हें अनुप्रेक्षा या भावना कहा गया है। भावना वैराग्य की माता मानी गई है। भावनाओं का पुनः पुनः चिन्तन करने से संसार की परिपाटी टूटती है। भावना भव-नासनी।

भावना भव नासनी

सृष्टि का रहस्य जानने की जिज्ञासा मनुष्य की बहुत पुरानी जिज्ञासा है। मानव को कल्याण का मार्ग बताने वाले प्रायः सभी विचारकों ने इस रहस्य को समझने-समझाने के प्रयास किये हैं। उनके समाधान चाहे जितने भिन्न रहे हों, परन्तु एक तथ्य पर वे सभी एकमत लगते हैं कि यह सारी सृष्टि मूलतः जड़ और चेतन इन दो तत्वों के मेल से बनी है। विश्व में सारा खेल इन्हीं दो तत्वों का है। इन दो तत्वों की व्याख्या सामान्यतः इस प्रकार की गई है—

- प्राणियों के शरीर में जानने-देखने वाला जो ज्ञानमय तत्व है, देह के भीतर ऊपर से नीचे तक सर्वत्र व्याप्त जो देही है, वही "आत्मा" है।
- चेतनामय होने से वही "चेतन" है।
- उसी तत्व के कारण प्राणी का जीवन है अतः वही "जीव" है।
- वही, और उतना ही "मैं" हूं।
- शेष सब मेरे लिये अन्य हैं, पर हैं।
- इस जगत में जो कुछ लाल-पीला, हरा-नीला आदि हमें दिखाई देता है, मीठा-खट्टा, कड़ुआ-कषायला आदि जिभ्या से चखने में आता है, सुगंध और दुर्गंध के रूप में सूंघकर अनुभव किया जाता है, ठण्डा-गरम, नरम-कठोर, हल्का-भारी और रूखा-चिकना, जो कुछ हम शरीर से छूकर जानते हैं, और ध्वनि, शब्द, अथवा "आहत-नाद" जिसे हम कानों से सुनते हैं वह सब "अचर" का विस्तार है।
- वह सब "अजीव" है। वह सब जड़ की लीला है।

यहां एक बात अवश्य ध्यान में रखनी होगी कि वह जड़ या अचेतन जब सूक्ष्म रूप में होता है तब वह इन्द्रियों के माध्यम से हमारे जानने में नहीं आता। परन्तु उस दशा में भी, रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि सब कुछ उसमें होता ही है। उस दशा में उसे पहचान पाना इसलिये असंभव होता है, क्योंकि हमारी इन्द्रियां मात्र स्थूल को ही जान पाती हैं। सूक्ष्म को जान लेने की शक्ति उनमें नहीं होती।

मुख्यतया जड़ और चेतन के योग से ही वह सृष्टि शास्वत बनी हुई है। अतः जड़ को जान लेने पर जगत हमारी दृष्टि में आ जाता है, और चेतन को जान लेने पर उसमें जन्म-मरण करता हुआ जीव हमारे ज्ञान में आ जाता है।

यह तो जग को जानने की प्रक्रिया हुई। परन्तु इस जग में उस जानने वाले को जान लेना, अपने पाप की पहिचान कर लेना, कुछ अलग है। उस "स्व" को जाने बिना सारा जानना निरर्थक रह जाता है। वास्तव में मेरा जगत तो वही, और उतना ही है। मेरी चेतना का विलास, या मेरा अपना परिणमन ही तो मेरा संसार है। इस समूचे दृश्य जगत का ज्ञान मेरे लिये तभी सार्थक है जब उसमें से मैं अपने आपका अभिज्ञान कर सकूं। इस दृष्टा को पहचान सकूं। स्वयं को जान सकूं।

क्षुद्र योनियों में तो अपने आप को जानने के साधन प्राप्त ही नहीं हुए। अब सारी योग्यताओं और अनुकूलताओं से सम्पन्न मनुष्य जन्म में, जब हमें आत्म-ज्ञान के सारे साधन उपलब्ध हुए हैं, तव उस ओर हमारी रुचि नहीं है।

मनुष्य इस संसार में सब कुछ जानना चाहता है, परन्तु वह अपने आप को जानने के लिये कोई उपाय नहीं करना चाहता। किसी आचार्य ने इसे जगत का सबसे बड़ा आश्चर्य बताते हुए कहा—"सब लोग जगत में सब कुछ जानने के जिज्ञासु हैं परन्तु उस जानने वाले को कोई नहीं जानना चहाता। इससे बड़ा आश्चर्य और क्या होगा ?—

पश्यन्ति हि जनाः सर्वे, सर्वमेव जगत सदा,
द्रष्टारं नैव पश्यन्ति, किमाश्चर्यमतः परम्।

एक शायर ने कहा—"शरीर और आत्मा का संबंध भी कैसा विचित्र संबंध है। पूरी आयु एक दूसरे मे गुंथकर रहे परन्तु परिचय भी नहीं हो पाया—

जिस्म औ रूह का रिश्ता अजीब रिश्ता है,
उम्र भर साथ रहे और तआरुफ न हुआ।

भक्ति और प्रभु-पूजा के सारे अनुष्ठान, ईश्वर-कृपा के लिये की जाने वाली सारी आराधना, केवल इसीलिये तो है कि मैं अपने भीतर बैठे हुए उस ईश्वरीय तत्व का, उस भगवान चेतन आत्मा का, दर्शन कर सकूं, जो नितान्त मेरा अपना है। जिसका अस्तित्व ही मेरा संसार है।

गोस्वामीजी ने जीव के लिये अपने सहज-स्वभाव का ज्ञान, या उसकी उपलब्धि को ही ईश्वर-आराधना का फल माना है। उनके आराध्य आश्वस्त करते हैं कि–

मम दर्शन फल परम अनूपा।
जीव पाव निज सहज सरूपा।

–रामचरित मानस

एक स्थान पर तुलसीदास ने इस आत्म-साक्षात्कार के लिये भगवान की भक्ति के जल से अपने चित्त को प्रक्षालित करने का परामर्श देते हुए कहा है–निर्मल मन में, बिना प्रयास ही धीरे-धीरे उस चिदानन्द चैतन्य परमात्मा की प्रतीति साधक को अपने भीतर होने लगेगी।

"रघुपति भगति वारि-छालित चित,
बिनु प्रयास ही सूझे,
तुलसिदास यह चिदविलास जग,
बूझत-बूझत बूझै।"–

– जड़ की माया में फँसे अपने इसी "चिद्विलास" को जानना है।
– इस विस्तृत संसार में मेरा क्या स्थान है ?
– जन्म-मरण के चक्र में फंसा हुआ मैं क्यों इसमें भटक रहा हूं ?
– मेरा भूतकाल कैसा था ? मेरा वर्तमान ऐसा क्यों है ? मेरा भविष्य कैसा होगा? क्या इन परिस्थितियों के निर्माण में मेरा भी कोई योगदान, या अपराध है ?
– क्या अपना भविष्य सुधारने के लिये मैं वर्तमान में कुछ उपाय कर सकता हूं ?

ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो प्रायः हम सबके मन में उठते रहते हैं। इन प्रश्नों का समाधान हम खोजना चाहते हैं। इन प्रश्नों का समाधान खोज लेना ही अपने को जानना है। जब तक हमने भूत-भविष्य और वर्तमान की दशाओं को, कारण सहित नहीं जान लिया, तब तक हम यह नहीं कह सकते कि हमने आत्म-तत्व को जान लिया है। अपने और पराये को, स्व और पर को, सही परिपेक्ष्य में जान लेना ही स्वरूप का ज्ञान है। वही स्व-पर-विज्ञान है। वही स्वाध्याय है।

संत कबीर ने एक जगह कहा— "ज्ञान की तो करोड़ों बातें कीं, परन्तु इससे लाभ क्या हुआ ? जिसका अनुभव करना चाहिये था वह आत्म-तत्व तो निपट अनजाना ही रह गया। जब तक अपनी ही पहिचान नहीं होगी तब तक अज्ञान का अंधकार मिटेगा कैसे ? जब सूर्य उदय नहीं होगा तब करोड़ों तारे भी क्या रात के अंधेरे को दूर कर सकेंगे ?—

आत्म-तत्व जाना नहीं, कथे जु कोटिक ज्ञान,
तारे तिमिर न नासहिं, जब लग उगे न भान।

जब अपने बारे में इस तरह के प्रश्न मन में उठते हैं, वास्तव में तभी से अपने आपको जानने की हमारी यात्रा प्रारम्भ हो जाती है। यह यात्रा बहुत कठिन नहीं है। कठिनाई यह है कि हमने कभी अपने आपको जानने का प्रयास ही नहीं किया। पर को जानने में, और उसी "पर" में रचते-बसते रहने में हम इतने व्यस्त रहे कि उसी "पर" को अपना "स्व" मान बैठे। उसी के अस्तित्व में अपनी सत्ता स्वीकार कर बैठे। उस हॉबी के लिये हमारे जन्म छोटे पड़ते गये। अगले जन्मों में उसी "पर" के सान्निध्य की लालसा संजोये हम बार-बार जन्मते और मरते रहे। हमने कई बार अपने बारे में बात तो की, परन्तु हमारी धारणा में, इस बाबद जो भ्रान्तियां चली आ रही थीं, उनका निराकरण करने का साहस हमने कभी नहीं किया। एक बार भी नहीं।

स्वयं अपने बारे में मन की माया से प्रेरित इस भरम को तोड़कर, जिन्होंने एक बार भी अपने भीतर झांक लिया, वे वन्दनीय हो गये। उनका नाम तसबीह के मनकों और माला के मणियों पर दुनियों में दोहराया जाने लगा। उन्होंने अपने भीतर से एक अनोखी रोशनी इस धरती पर बिखेरी। न जाने कितने लोग इस रोशनी के सहारे चल निकले और अपने लक्ष्य तक पहुंच गये।

जिस दिन अपने "स्व" से हमारा परिचय हो जाता है, उसी दिन, उसी क्षण "पर" को भी हम जान लेते हैं। पर को सही ढंग से जानने के लिये स्व का जानना आवश्यक है। जिसने स्व को नहीं जाना वह पर को जान ही नहीं सकता।

भगवान महावीर ने तो स्व की पहिचान में ही अपने "रत्न-त्रय" की प्रतिष्ठा कर दी। वे कहते हैं—"पर से भिन्न "स्व" पर आस्था ही

सम्यग्दर्शन है। पर से भिन्न "स्व" का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है और पर से भिन्न "स्व" में रच-पच जाना ही सम्यक्चारित्र है। महावीर तो कहते हैं जिसने अपना बनने की ठान ली, और जो अपना बन गया, वह स्वयं भगवान ही बन गया। महावीर के इसी आश्वासन को एक मित्र ने इस प्रकार दो पंक्तियों में बांध कर कहा है—

अपने भीतर डूब कर पा ले सुरागे-जिन्दगी,
तू अगर मेरा नहीं बनता, न बन, अपना तो बन।

अपने ही अन्तर में दृष्टि डालकर हम उस परम तत्व को पहचान सकते हैं। उसे ढूंढ़ने के लिये अन्य किसी की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है। शर्त इतनी अवश्य है कि उसे पहचानने वाली दृष्टि हमारे पास हो। आज जब हम तरह-तरह की वासनाओं से भरे अपने आक्रान्त-अंत:करण की ओर देखते हैं, तब हमें उन सबके बीच से अपने आप को पहचानना कठिन लगता है। यह कठिन भले हो, परन्तु असम्भव नहीं है।

आज भले ही हमें विराट् रूप का दर्शन कराने के लिये कोई वासुदेव साक्षात् हमारे समक्ष न हों, पर चिन्तन की धरा पर विश्व के वास्तविक रूप का साक्षात्कार कर लेना आज भी सहज-सम्भव है। इतना भर नहीं, वरन् चिन्तन के माध्यम से साधक इस विशाल विश्व में अपनी वर्तमान स्थिति का सही आकलन करके अपने आपको ऊपर उठाने का प्रयास भी कर सकता है। जिसने भी आत्मोत्कर्ष की दिशा में कदम बढ़ाया है, उसने इन्हीं स्थितियों में से, इसी प्रकार चिन्तन का सहारा लेकर ही, अपनी यात्रा प्रारम्भ की है।

जैन संतों ने विश्व का वास्तविक स्वरूप समझने के लिये बहुत चिन्तन किया है। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि यह वास्तविकता निरन्तर हमारी दृष्टि में रहना चाहिये। बार-बार उस पर विचार होना चाहिये। वस्तुस्थिति के चिन्तन की इसी धरा पर साधना का भवन खड़ा हो सकता है।

वैसे तो जगत के स्वभाव और स्वरूप का चिन्तन अनेकों प्रकार से हो सकता है, परन्तु जैनाचार्यों ने उसे बारह प्रकारों में वर्गीकृत करके कहा है। इसे "द्वादस-अनुप्रेक्षा" कहा गया है। प्रेक्षा का अर्थ है देखना और अनुप्रेक्षा है—बार-बार देखना। बार-बार विचारना या चिन्तन और अनुचिन्तन करना। □

बारह भावना

बारह-भावनाएं धार्मिक जीवन का मंगलाचरण हैं। जैन साहित्य में इन्हें बहुत महत्त्व दिया गया है। प्राकृत हो या संस्कृत, अपभ्रंश हो या हिन्दी, सभी में बारह-भावनाओं पर प्रचुर मात्रा में लिखा गया है। प्राचीन कवियों में कविवर भूधरदास की बारह भावना सर्वाधिक प्रचलित काव्य है। अपने पार्श्व पुराण में कवि ने दो-दो पंक्तियों में हर भावना का स्वरूप बड़े कौशल के साथ व्याख्यायित किया है। शायद ही कोई ऐसा जैन होगा जिसे पांच-सात साल की आयु में ये दोहे कंठस्थ न कराये गये हों।

यहां हम उन्हीं दोहों का सहारा लेकर इन भावनाओं की व्याख्या करेंगे। अनेक आधुनिक कवियों ने भी इस प्रसंग को अपनी कविता का विषय बनाया है। उनमें स्व. राजधर जैन के पद्यों की सरलता और अर्थ-गम्भीरता पाठक को सहज आकर्षित करती है। यहां वे पद्य भी उद्धृत किये जा रहे हैं। संत-साहित्य में भले ही द्वादस-अनुप्रेक्षा का नाम न आया हो, पर गोस्वामी तुलसीदास और कबीर आदि की वाणी में भी प्रायः इन भावनाओं की चर्चा आई है। उनमें से भी कुछ उद्धरण यहां लिये गये हैं। एक कवि की अंग्रेजी पंक्तियां भी प्रस्तुत हैं—

1. अनित्य भावना

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार,
मरना सबको एक दिन, अपनी अपनी बार।

—भूधरदास

संसार में सुत-सुता, सजनी-सजन, अरु सीमंतिनी,
गौ-गेह-गज, तारुण्य-तन, सम्पत्ति संकट-टालिनी।
सब चंचला, चपला सदृश अस्थिर, यही निश्चय करो,
मोहित न होकर के इन्हों में, स्व-पर-हित साधन करो।

—राजधर जी

— संसार की हर वस्तु अनित्य है।
— यहां कुछ भी शास्वत, सदा रहने वाला नहीं है।

— जिसने जन्म लिया है उसे अपनी आयु समाप्त होने पर मरना ही है।

छोटा हो या बड़ा, निर्धन हो या धनी, निर्बल हो या बलवान, सभी को अपनी अपनी बारी पर यहां से बिदा लेना ही पड़ती है।

यह सच है कि अपने कर्मों का फल भोगने के लिये प्राणी को बार बार जन्म लेना पड़ता है, परन्तु हर जन्म के उपरान्त एक दिन उसका मरण भी अनिवार्य है।

इस प्रक्रिया में कभी, किसी के लिये भी, कोई परिवर्तन नहीं होता।

"जन्म के वाद मरण" यह प्रकृति का अटल नियम है।

इसी प्रकार सारे नाते-रिश्ते, धन और सम्पत्ति भी आकाश में चमकने वाली विजली की तरह अस्थिर और क्षण-भंगुर हैं। निरन्तर इनकी अनित्यता का विचार करते हुए स्व-हित और परोपकार में इन्हें लगाना चाहिये।

संत कवीर ने कहा, जो आया है सो जायेगा। इतना अंतर अवश्य है कि कोई पुण्य की गठरी बांधकर शुभ गति के लिये कूच करेगा और कोई पाप के वंधनों से जकड़ा हुआ नीच गति में जायेगा, पर जाना सबको पड़ेगा। प्रिय जन और मीत सब जा रहे हैं। मेरी बारी भी प्रतिक्षण निकट आ रही है—

आये हैं ते जायेंगे, राजा-रंक फकीर,
एक सिंहासन चढ़ि चले, इक बंधे जात जंजीर।

बारी-बारी आपने, चले पियारे मीत,
तेरी बारी जीयरा, नियरे आवे नीत।

तुलसीदासजी ने एक ही पंक्ति में यह वात कह दी। डाल पर जो फल लगेगा उसे एक दिन डाल से टूटना ही होगा। जो ज्योति जलेगी वह एक दिन वुझेगी ही—

धरा कौ प्रमान यहै तुलसी,
जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना।

कवीर ने भी उनके स्वर में स्वर मिलाकर संसार की अनित्यता को रेखांकित किया—

जो उगै सो आथवै, फूलै सो मुम्हिलाय,
चुना जाय सो ढहि परै, जनमै सो मरि जाय।

संसार में हर जीवन की अन्तिम परिणति मृत्यु ही है। मृत्यु निश्चित है सिर्फ उसका समय निश्चित नहीं है। वह किसी को भी, कहीं भी, किसी भी क्षण, महानिद्रा में सुला दे सकती है।

जब बड़े-बड़े समृद्ध और शक्तिशाली, सूरवीर, योद्धा और राजा-महाराजा, यहां तक कि स्वर्गों के देवी-देवता और इन्द्र-महेन्द्र भी, सदैव जीवित नहीं रह सके, उन सबको एक दिन अपनी बारी आने पर मरना ही पड़ा, तब मेरा शरीर सदा कैसे रह सकता है ?

एक शायर ने दुनिया की हकीकत की तस्वीर एक शेर में इस प्रकार प्रस्तुत की है—दुनिया में यदि कुछ स्थायी सा दिखता भी हो तो वह ऐसा समझना चाहिये जैसे कोई व्यक्ति डूबती हुई ध्वस्त नौका के पटरे पर गहरी नींद में सो रहा हो। वह कितनी देर सुरक्षित रह सकेगा ?—

कोई सोता हो जैसे डूबती कश्ती के तख्ते पर,
अगर कुछ है तो बस इतनी ही दुनिया की हकीकत है।

भूधरदासजी ने अपने एक पद में संसार की यथार्थता को बड़ी सादगी से चित्रित किया है—" भाई ! तू भगवान की भक्ति से विमुख क्यों हो रहा है ? यह संसार तो नींद में देखे गये सपने जैसा निःसार और नाशवान है। तेरा तन और धन, सब जल के बुलबुले ही तरह क्षणभंगुर हैं। यह तेरा जीवन, जिस पर तू इतना मोहित हो रहा है, यह तो जलती आग में पड़े हुए घास के पूले के समान है, यह कितने दिन रहेगा ? काल तो अपनी कुठार लेकर तेरे सिर पर ही खड़ा हुआ है और तू न जाने क्या समझ कर, अपनी अमरता के सपने संजो रहा है। अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये तो तू चौपाये पशुओं से भी तेज गति से, जैसे पांच पैरों से भाग रहा है, और धर्म की साधना के लिये, अपने आपको पंगु समझता है, असमर्थ मान बैठा है। तू ही बता भाई ! जब तू केवल दुख उपजाने वाले काम करता रहेगा, तो तुझे सुख कैसे प्राप्त होगा ? कहां से प्राप्त होगा ?—

भगवंत भजन क्यों भूला रे।
यह संसार रैन का सपना, तन-धन वारि-बबूला रे।

इस जीवन कौ कौन भरोसौ, पावक में तृन-पूला रे,
काल कुदाल लियैं सिर ठांड़ौ, क्या समझैं मन फूला रे।

स्वारथ साधे पांच पांव तू, परमारथ में लूला रे,
कहु कैंसे सुख पैहै प्रानी, काम करै दुख-मूला रे।

—भूधरदास/अध्यात्म पदावली

इस सृष्टि में सिर्फ आत्मा को छोड़कर सब कुछ तो अनित्य है। इस नाशवान देह में रहने वाला मैं अजर-अमर और अविनाशी हूं। इस जन्म के पूर्व भी मैं था, और मरण के उपरान्त भी मैं रहूंगा। शेष जितने भी पदार्थ हैं वे सब अनित्य हैं। कोई इस रूप में रहने वाला नहीं है। वे सब मुझसे भिन्न हैं। एक दिन मुझे उनसे अवश्य ही जुदा होना है। तब फिर उनमें मोह-ममता करके अपनी आत्मा को मलिन करने से क्या लाभ ? जिनके बीच में जीवन भर रहना है, उनका यथार्थ स्वरूप समझकर उनसे व्यवहार चलाना ही मेरे लिये हितकर है।

संसार में सब कुछ अनिश्चित हो सकता है परन्तु जिसका प्रारम्भ है, उसका अन्त सुनिश्चित है। जिसका जन्म हुआ है उसका मरण निश्चित, अटल और अनिवार्य है। यदि हम उसे भुलाकर चलेंगे तो किसी दिन जब अकस्मात् उसका सामना करना पड़ेगा तब बहुत सी कठिनाइयां हो सकती हैं। इसीलिये संतों ने कहा—"सदा मृत्यु को दृष्टि में रखो। निरन्तर उसका चिन्तन करो। उसे अपरिचित मत रहने दो। मनुष्य को मृत्यु का जितना भय लगता है वह केवल अपरिचय के कारण है। जिसने मृत्यु को पहचान लिया उसका सारा भय तिरोहित हो गया। ऐसे ही लोगों ने मृत्यु को परम-सखा कहा। माता के समान हितकारी कहा और मरण को "मृत्यु-महोत्सव" कहकर उसका स्वागत किया।

दो मित्र थे। एक साथ खेले, एक साथ पढ़े। फिर उनमें से एक किसी संत के सम्पर्क में आकर साधना करने लगा और दूसरे ने अपनी गृहस्थी बसा ली। बहुत वर्षों के बाद मित्र के गांव में संत का आगमन हुआ। दोनों ने एक दूसरे को पहचान लिया। संत की बड़ी आव-भगत हुई।

शाम को एकान्त में लालाजी ने संत के सामने अपनी व्यथा रखी।—"बड़े कष्ट में जीवन बीत रहा है। वैसे तो भगवान का दिया सब कुछ है। पत्नी, बेटे-बेटियां, नाती-पोते, धन-सम्पदा, सब है।

कोई कमी नहीं है। पर दुश्चिन्ता, लोभ-लालच और क्रोध मुझे हमेशा जलाते रहते हैं। स्वभाव बेहद चिड़चिड़ा हो गया है। किसी उपलब्धि से, और किसी के किसी भी काम से मुझे संतोष नहीं होता। बहुत परेशान हूं। मेरा तो जीवन दूभर हो गया है।"

—"जब इतना पाकर भी मैं दुखी हूं तब तुम सुखी कैसे रह लेते हो ? तुम्हारे पास तो कुछ भी नहीं है। न दो जोड़ी कपड़े, न कल के खाने का ठिकाना, न सिर छिपाने के लिये कोई छप्पर। फिर कहां से लाते हो इतना संतोष? कैसे रह लेते हो इतने निश्चिन्त और प्रसन्न ?

संत ने कहा— "भाई ! साधना बड़ी कठिन है। उसके प्रयोग भी कष्टकर हैं। इस जन्म में अब तुम कर नहीं सकोगे। और अब तुम्हारे पास समय ही कितना है ? आज सोमवार है। आने वाले रविवार को ही तुम्हारे जीवन का अंत मुझे दिखाई दे रहा है। एक दिन भी इस होनी को कोई टाल नहीं सकेगा। शनिवार को जो जैसा होगा, रविवार को सब वैसा ही छोड़कर तुम्हें जाना होगा। अच्छा यही है कि जिन्दगी भर परिश्रम करके जो समेटा है उसी के बीच आराम से ये पांच-छह दिन और बिता लो, फिर जाना तो है ही। रविवार को सुबह तुम्हारे प्रस्थान के पूर्व, मैं आऊंगा तुम्हारे घर। वह अपनी अंतिम भेंट होगी।

लालाजी संत की बात पर अविश्वास नहीं कर सके। अपनी आखिरी घड़ी उन्हें सामने दिखाई देने लगी। मृत्यु उनकी आंखों के सामने नाचने लगी। एक क्षण के लिये भी उसे भुलाना अब उनके लिये सम्भव नहीं रहा। घर तो किसी प्रकार लौट आये, परन्तु अब उनके लिये वह घर वैसा नहीं रह गया था। सब कुछ परिवर्तित सा, बदला-बदला सा लगने लगा। जीवन की धारा ही बदल गई। कहां गया क्रोध, और कहां चला गया लालच, वे स्वयं भी समझ नहीं पाये। सब कुछ निःसार दिखाई देने लगा। केवल एक ही बात याद रही—"रविवार को जाना है।"

ऐसा लगा जैसे समय पंख लगाकर उड़ रहा हो। बहुत जल्दी रविवार भी आ गया। अभी लालाजी स्नान करके भगवत् नाम की माला फेर रहे थे कि उसी समय संत द्वार पर प्रगट हुए। लालाजी ने चरणों में गिरकर प्रमाण किया और कहा—"आपने देर क्यों कर दी ?" मैं तो सुबह से ही तैयार बैठा हूं।"

संत ने कहा—"यह चमत्कार कैसे हो गया ? आप इतने शान्त

बैठे हैं। जो आपके सामने आने से डरते थे वे आपको घेर कर बैठे हैं। घर में वातावरण एकदम शान्त दिखाई दे रहा है। आपका क्रोध और चिड़चिड़ापन कहां चला गया ?

—"महाराज ! जब से आपके पास से लौटा हूं, मुझे मृत्यु के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं दिया। मन में भी बराबर यही बात घूमती रही कि सब कुछ छोड़कर सातवें दिन जाना है। अब इतने थोड़े समय के लिए किस पर क्रोध करता ? जब सब छोड़कर जाना ही है तो क्या समेटना ? आपका बड़ा उपकार है कि आपने समय रहते चेतावनी देकर मेरा अंत सुधार दिया।"

संत ने बड़े प्यार से, मुस्कुराते हुए, अपने मित्र के सिर पर हाथ फेरा और उन्हें आश्वासन दिया—"आज ही जाना होगा ऐसा कुछ निश्चित नहीं है। किसे, कब जाना है, यह कोई जान भी तो नहीं सकता। हमने तो केवल तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देने के लिए यह एक प्रयोग किया था।"

—"तुम्हें एक आशंका हो गई है कि सातवें दिन मृत्यु आ सकती है। मात्र इतने से ही तुम्हारे मन के सारे आवेग शान्त हो गये। वासनायें मन्द पड़ गईं और जीवन के प्रति तुम्हारा दृष्टिकोण बदल गया।"

—"हमने जब से साधना प्रारम्भ की है तब से प्रतिक्षण मृत्यु की सम्भावना हमारी दृष्टि में रहती है। लगता है जो सांस भीतर जा रही है वह लौटकर आयेगी या नहीं, कोई ठिकाना नहीं हैं। मृत्यु जीवन का अटल परिणाम है। यदि हम इस बात को ध्यान में रखें तो हमारी जीवन-यात्रा शान्ति और सद्भावनापूर्ण हो सकती है। यही हमारे सन्तोष और आनन्द का रहस्य है।"

—"एक बात और कहनी है मित्र ! हमने तुमसे जो कहा था वह एकदम असत्य ही नहीं है। सोमवार से लेकर रविवार तक दिन तो कुल सात ही होते हैं। सबके जीवन का विसर्जन इन्हीं में से किसी दिन होता है। किसी के लिए आठवां कोई दिन है ही नहीं। इसलिए जाते-जाते इतना और कहना है कि किसके लिए, कौन सा दिन अन्तिम दिन होगा, कोई नहीं जानता। अपने कर्तव्य का पालन करो और प्रत्येक दिन को जीवन का अन्तिम दिन मानकर जीना सीखो। वासनाओं के चक्र-व्यूह स्वयं बिखरते जायेंगे। एक-एक घड़ी आनन्द से भर उठेगी।"

मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए संत दूसरे गांव की ओर प्रस्थान कर गये।

अनित्य भावना के नित्य-चिन्तन से इसी प्रकार मझे अपने जीवन को संस्कारित करना है। मृत्यु से डरना, उसकी कल्पना करके भयभीत रहना और उसे अशुभ अथवा अहितकर मानना भ्रम है।

मृत्यु तो माता की तरह है। मां धूल में लथ-पथ बालक के मैले वस्त्र उतार कर उसे नवीन स्वच्छ वस्त्र पहनाती है तब बालक उससे दूर भागता है। वह मचल-मचल कर रोता है। हमें भी जीर्ण और रुग्ण शरीर छोड़ कर नवीन शरीर प्राप्त कराने का काम मृत्यु के अतिरिक्त कोई नहीं कर सकता। इसीलिए तो संतों ने मरण को "मृत्यु-महोत्सव" कहा है।

मेरे जीवन में यह महोत्सव किसी भी क्षण मनाया जा सकता है। किसी भी तरह वह मुहूर्त टाला नहीं जा सकेगा। भयाक्रान्त होकर, रोते-बिलखते हुए उस मुहूर्त को कोसते रहना है या आश्वस्त होकर, प्रसन्न मन से उस मगल मुहूर्त का स्वागत करने के लिय हाथ बढ़ाना है ?

1st meditation

TRANSITORINESS OF THINGS

Kings, Emperors and Presidents,
And riders of Earoplanes
All shall die at one's own turn
Amidst the sea and plains.

2. अशरण भावना

6

दल बल देई देवता, मात पिता परिवार,
मरती बिरियां जीव को, कोई न राखनहार।

सुर-असुर, सुरपति-नृपति, खगपति, वैद्य, निर्धन अरु धनी,
विद्वान-मूरख, सुभग-दुर्भग, गुनी अथवा निर्गुनी।
संसार में कोई मरण से बचा सकता है नहीं,
चाहे करें वे मंत्र-औषधि-तंत्र, जितने हों सभी।

जगत में जीव को मृत्यु में बचानेवाला कोई नहीं है। कितना भी बड़ा परिकर और परिवार हो, कितना ही बलवान

शरीर हो, कितनी ही धन-सम्पदा हो, और किसी भी देवी-देवता की उपासना की जाये, परन्तु मृत्यु पर किसी का जोर नहीं चलता। उसके सामने सब निरुपाय हो जाते हैं। समय आने पर सबको मरना ही पड़ता है। सारी औषधियां, सारे मंत्र-तंत्र और सारी माया निरर्थक पड़ी रह जाती हैं। कालचक्र से बचाकर शरण देने वाला कहीं कोई नहीं है।

संत कबीर ने कहा—"जाने वाले को रोका नहीं जा सका। माता-पिता, संतान और बांधव, सबका संयोग निरर्थक ही सिद्ध हुआ—

जाने वाले ना रुके, किसकी पूछूं बात,
मात-पिता, सुत-बांधवा, सब झूठा संघात।

कवि मंगतराय ने कहा—"जन्म-मरण की इस अटवी में चेतन के मृग को काल के सिंह ने घेर लिया है। कोई बचाने वाला नहीं है। काल का लुटेरा जब काया की नगरी को लूटने आता है तब मंत्र-यंत्र और सेना, धन-सम्पदा और राज-पाट, सब यहीं छूट जाते हैं। काल पर किसी का वश नहीं चलता। देव-धर्म और गुरु ही इस जीव के लिये शरण हैं, अन्य कोई शरण नहीं है। काल से बचाने की शक्ति किसी में नहीं है, उसके सामने सब असहाय हैं।

देव-धर्म और गुरु इस आतंक से त्राण दे सकते हैं। वे भी मुझे मृत्यु से तो नहीं बचा सकते, परन्तु मृत्यु के आतंक से अवश्य मुक्ति दिला सकते हैं। जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिये छुटकारा दिलाने की सामर्थ्य उनमें है। मेरी आयु बीती जा रही है, परन्तु मोह के नशे में भटकता हुआ मैं उनकी शरण में जाने का संकल्प नहीं कर पाता—

काल सिंह ने मृग चेतन को घेरा भव-वन में,
नहीं बचावनहारा कोई, यों समझो मन में।

मंत्र-तंत्र, सेना, धन-सम्पति, राज-पाट छूटै,
वश नहिं चलता, काल लुटेरा काय नगरि लूटै।

चक्ररतन हलधर सा भाई काम नहीं आया,
एक तीर के लगत कृष्ण की विनश गई काया।।

देव-धर्म-गुरू शरण जगत में, और नहीं कोई,
भ्रमवश फिरै भटकता चेतन, यूं ही उमर खोई।

—कवि मंगतराय/बारह भावना

आज मैं स्वयं अनुभव करता हूं कि संसार में मुझे पीड़ा और मृत्यु से बचाने वाला कोई शरण नहीं है। जब पाप कर्म का उदय होता है तब मेरे अपने भी परायों की तरह दुखद व्यवहार करने लगते हैं। मित्र भी शत्रुवत् आचरण करने लगते हैं। पुण्य के उदय में विरोधी भी अनुकूल हो जाते हैं। सब कुछ मेरे अपने ही पाप-पुण्य का खेल है।

जनकपुरी में राम सीता के विवाह के अवसर पर पुष्प-वर्षण करने वाले देवता, उनके वनवास के समय सामने भी नहीं आये। रावण द्वारा सीता का अपहरण हुआ तब कौन बचाने आया ?

सीता के वियोग में विरही राम वृक्षों और पक्षियों से सीता का पता पूछते, अधीर होते भटकते रहे। हजारों राक्षसों का वध करके उन्होंने सीता को रावण के बंधन से मुक्त कराया। परन्तु दुर्भाग्य के समय उन्हीं राम ने अपनी प्रिय सीता को महलों से निष्कासित करके वनवास दे दिया। उस समय सीता को अपने कर्म का उदय स्वयं अकेले ही भोगना पड़ा। माता-पिता और गुरुजन, सास-ननद, परिजन और पुरजन, कोई तो सहायक नहीं हुआ।

कर्मोदय के सामने मुझे भी इस संसार में देवी-देवता, माता-पिता, मंत्र-तंत्र और सगे-संबंधी, कोई भी शरण नहीं हो सकेंगे। उसमें किसी का कोई दोष नहीं। संसार की वास्तविकता ही ऐसी है। किसी के दुख और पीड़ा का साझीदार कोई हो ही नहीं सकता।

संसार में केवल मेरा ईश्वर और मेरा धर्म ही मेरे लिये शरण है। जो उस परमात्मा को जानता है वह अपनी आत्मा को भी जानता है। मेरी आत्मा में भी परमात्मा बनने की शक्ति है। तब मेरे लिये मेरा आत्मा ही शरण है। वही मेरा "अपना" है। शेष सब तो पराया है, यहीं छूट जाने वाला है। मेरा जन्म-जन्म का साथी और शास्वत शरण तो मेरा आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं।

2nd Mediation :

NO SHELTER

No army, power and invention;
Mother, father and the kins;
All at the time of Death;
Shall none keep ye in.

3. संसार भावना

दाम बिना निर्धन दुखी, तिसना बस धनवान।
कहूं न सुख संसार में, सब जग देख्यौ छान।।

सुर-नर, नरक-तिर्यच गतिमें, जीव दुःसह दुख सहैं,
कर देह-परिवर्तन विविध नित कर्म से पीड़ित रहै।

निस्सार यह संसार सब विधि, सार कुछ भी तो नहीं,
भुला हुआ है व्यर्थ क्यों इसमें न सुख साता कहीं।

संसार की वास्तविकता यही है कि यहां जो भी है वह किसी न किसी कारण से दुखी ही है। मानव मात्र को, हम दो भागों में कल्पित कर सकते हैं। एक वे जिनके पास आजीविका और सुख-सुविधाओं का कोई साधन नहीं है। दूसरे वे जिन्हें कुछ मात्रा में ये साधन, आजीविका, जर-जमीन, और मकान आदि प्राप्त हुए हैं।

अंतर में झांककर देख सकें तो दोनों प्रकार के मनुष्यों में सुखी कोई नहीं, वे सब दुखी ही हैं। यह अन्तर अवश्य हो सकता है कि जिसके पास कुछ नहीं है वह ''कुछ न होने के दुख से'' दुखी हो, उस ''कुछ'' को पाने के लिये संघर्ष कर रहा हो। दूसरी ओर जिसके पास थोड़ा-बहुत कुछ है, उसके मन में इतना अधिक पाने की आकांक्षाएं हैं जिनके सामने उस होने का कोई अर्थ नहीं है। वह अपनी ''अतृप्त आकांक्षाओं के कारण'' दुखी है। उन्हीं की पूर्ति के लिये एक अन्तहीन संघर्ष में लगा है। इस प्रकार संसार में अपनी आशा, तृष्णा और अभिलाषा के अनुरूप हर कोई दुखी ही है। अंतर केवल दुख के प्रकारों का और परिणाम का है।

भूधरदासजी ने अपनी लेखनी को तूलिका बनाकर संसार के वास्तविक, दुखःमय स्वरूप का यथार्थ चित्र अंकित किया है—''यह संसार एक भयानक अटवी के समान है। मैं अनादिकाल से इसमें भटक रहा हूं पर इसका कोई ओर-छोर दिखाई नहीं देता। जन्म, मरण और वृद्धावस्था की ज्वालाओं में झुलसता हुआ मैं दुख ही दुख भोग रहा हूं—

इह संसार महावन भीतर, भरमत ओर न आवे,
जामन-मरन-जरा दौं दाझयौ, जीव महादुख पावै।

चारों गतियों के दुखों का बखान करते हुए उन्होंने कहा—कभी नरक भोगना पड़ा जहां भयावनी परिस्थितियों में लम्बे समय तक भीषण दुख सहे। पशु हुआ तब वध और बंधन सहना पड़े। भूख और प्यास की वेदना भोगना पड़ी। स्वर्ग में देव भी हो गया तो वहां भी आशा-तृष्णा ने पीछा नहीं छोड़ा। वहां दूसरे अधिक सम्पन्न देवों की सम्पदा देखकर झुरता रहा। और वह मनुष्य पर्याय तो अनेक प्रकार के दुखों से भरी हुई है। संसार में सुखी है कौन ?—

कबहूं जाय नरक थिति भुंजै, छेदन-भेदन भारी,
कबहूं पशु परजाय धरै तहं, बध-बंधन भयकारी।

सुरगति में पर-संपति देखें, राग उदय दुख होई,
मानुष जोनि अनेक विपतिमय, सर्व सुखी नहिं कोई।

मनुष्य पर्याय तो हम और आप सब भोग ही रहे हैं। हममें से अधिकांश की स्थिति क्या है, इसे भी कवि ने चित्रित कर दिया है—''कोई अपने प्रिय के वियोग में रो रहा है, किसी को अप्रिय के संयोग की पीड़ा है। कोई विपन्न है, उसके पास कुछ नहीं है, और कोई शरीर के रोगों को लेकर परेशान है। किसी के घर में कर्कशा स्त्री, और किसी के परिवार में दुष्ट बंधु-बांधव दुख का कारण बन रहे हैं। किसी के दुख उसकी मुखाकृति पर झलक रहे हैं। बहुतेरे ऐसे भी हैं जिनके दुख बाहर से दिखाई नहीं देते, परन्तु वे अपने भीतर वेदना की बाढ़ को छिपाये हुए मानसिक पीड़ाएं भोग रहे हैं—

कोई इष्ट-वियोगी बिलखै, कोई अनिष्ट-संजोगी,
कोई दीन-दरिद्री रोवै, कोई तन के रोगी।

किसही घर कलिहारी नारी, के बैरी सम भाई,
किसही के दुख बाहर दीसैं, किसही उर दुचिताई।

कोई संतान के लिये तरस रहा है, कोई संतान के वियोग में सिसक रहा है। किसी के मन में खोटी संतान के कारण चिन्ता की चिता जल रही है। कोई भी सुख से सो नहीं पा रहा। जिन्हें पुण्य के उदय से अनुकूल परिस्थितियां मिली हैं उन्हें भी स्थायी सुख-साता कहां मिली

है ? कुछ न कुछ तो लगा ही रहता है। इस तरह यथार्थ में देखें तो यह जगत दुःख, संक्लेश, पीड़ा ओर वेदनाओं का ही घर है—

कोई पुत्र बिना नित झूरै, होय मरै तिन रोवै,
खोटी संतति सों दुख उपजै, क्यों प्रानी सुख सौवे ?

पुन्य उदय जिनके, तिनके हूं, नाहिं सदा सुख-साता,
यह जगवास जथारथ देखें, सब दीखै सुखदाता।

—भूधरदास/पार्श्व पुराण/3:79-84

गोस्वामीजी ने तो एक ही दोहे में सब कह दिया—संसार में तन-मन-धन तीनों से सुखी कोई नहीं है। कुछ न कुछ दुख सबके साथ लगा है। सुखी केवल वह जिसने भगवद्-भक्ति का सहारा लेकर अपने मन को संतुष्ट कर लिया—

कोई तन दुखी, कोई मन दुखी, कोई धन बिन रहत उदास,
थोड़े थोड़े सब दुखी, इक सुखी राम का दास।

किसी शायर ने कहा था—जीवन की वास्तविकता को यदि सही दृष्टि से देखा जा सके तो संसार की असारता स्पष्ट हो जाती है—

जिन्दगी पर डाल ली जिसने हकीकत की निगाह,
जिन्दगी उसकी नज़र में, बे-हकीकत हो गई।

संसार की वस्तुएं जितनी लुभावनी दिखाई देती हैं, वास्तव में उतनी लुभावनी हैं नहीं। उनकी संगति में मुझे जो सुख का आभास होता है वह क्षणिक और सारहीन है। अतं में मुझे सदैव अतृप्ति और आकांक्षा ही मिली है। असंतोष ही मिला है।

इस संसार में सार यही है कि जब तक मेरा शरीर और मष्तिष्क सशक्त है तब तक स्व-पर उपकार में मैं उसका उपयोग कर सकूं। यह मनुष्य का जीवन बहुत कठिनाई से प्राप्त होता है। एक-एक सांस के साथ मैं इस दुर्लभ पर्याय का क्षय कर रहा हूं। सब कुछ निरर्थक ही बीता जा रहा है। इसे सारहीन, झूठे सुखाभास की उपासना में ही बिता

देना है, या इसके द्वारा अविनश्वर सुख की दिशा में आगे बढ़ने का कोई प्रयत्न करना है ?

3rd Meditation

WORLDLY CONDITION

Pain to the poor without wealth,
And rich in the wit of Desire;
Oh Shall ye see amidst the world
Nay joice, but anxiety sphere.

4. एकत्व भावना

आप अकेला अवतरै, मरें अकेला होय।
यू कबहूं इस जीव कौ, साथी सगा न कोय।

प्राणी शुभाशुभ कर्म-फल सहता अकेला आप है,
साता-असाता बांट सकता नहीं कोई आप है।
माता-पिता, सुत-सुता, सजनी-सजन, पति-पत्नी सभी,
दिखते सगे साथी मगर नहिं दुःख के साझी कभी।

जन्म के बाद व्यक्ति के साथ कितने ही रिश्ते क्यों न जुड़ सकते हों परन्तु जन्म लेते समय सब नितान्त अकेले ही होते हैं। इसी प्रकार मरणकाल में प्राणी के सारे रिश्ते समाप्त हो जाते हैं। उसे अपने अगले जन्म के लिये अकेले ही जाना पड़ता है। कोई मित्र या संबंधी न तो पिछले जन्म से उसके साथ आता है और न ही मरण के बाद मैत्री या संबंध निबाहे जा सकते हैं। वह सारी यात्रा तो इस जीव को हर बार अकेले ही करना पड़ती है।

यात्रा में हमें कुछ साथी मिल जाते हैं। थोड़े समय के लिये हम उन्हें अपना मित्र मानने लगते हैं। इसी प्रकार जन्म लेने के बाद, माता-पिता के माध्यम से, और अपने शरीर के माध्यम से, हमारे कई सहोदर, संबंधी और मित्र बन जाते हैं। वे हमारे अत्यंत निकट दिखाई

देते हैं परन्तु अपना सुख-दुख हमें अकेले ही भोगना पड़ता है। उसका कोई साझीदार नहीं होता।

कवि मंगतराय ने अपनी बारह भावना में इसी प्रसंग पर कहा—

जन्मै मरै अकेला चेतन, सुख-दुख का भोगी,
और किसी का क्या, इक दिन यह देह जुदी होगी।

कमला चलत न पैड़, जाय मरघट तक परिवारा,
अपने अपने हित को रोवैं, पिता-पुत्र द्वारा।

ज्यों मेले में पंथीजन मिल, नेह फिरैं धरते,
ज्यों तरुवर पर रैन बसेरा, पंछी आ करते।

कोस कोई, दो कोस कोई, फिर थक-थक कर हारैं,
जाय अकेला "हंस", संग में कोई न पर मारैं।

कवि दौलतरामजी ने कहा— "अपना शुभ और अशुभ कर्मफल जीव को अकेले ही भोगना पड़ता है। स्त्री और पुत्र भी उसमें साझीदार नहीं हो सकते। संसार के नाते-रिश्ते केवल स्वार्थ पर आधारित हैं"—

शुभ-अशुभ करमफल जेते, भोगै जिय एकहिं तेते,
सुत-दारा होय न सीरी, सब स्वारथ के हैं भीरी।

—छहढाला/5-6

तुलसीदास ने जग की स्वार्थ-वृत्ति को वृक्ष के माध्यम से उजागर करते हुए कहा—"जब तक वृक्ष हरा-भरा है तब तक लोग उसकी पत्तियां काटकर अपने पशुओं को चराते हैं। पेड़ में फल लग जायें तो अपने उपयोग के लिये तोड़ लेते हैं, और वृक्ष में आग लग जाये तो सर्दी मिटाने के लिये उस पर अपने हाथ-पैर सेंकते हैं। हर हालत में उससे अपने स्वार्थ की ही सिद्धि करते हैं। जग ऐसा ही स्वार्थ का मित्र है। निःस्वार्थ तो केवल प्रभु हैं, उनसे लगन लगाना चाहिये—

हरो चरहिं, तापत बरत, फरैं पसारहिं हाथ,
तुलसी स्वारथ मीत जग, परमारथ रघुनाथ।

बनारसीदास ने कहा—"कैसी मूढ़ता है कि अचेतन और अपवित्र शरीर से तू इतना ममत्व रखता है। बेसुध होकर तू तो मोह की पीड़ा से

बेचैन हो रहा है। अपनी-अपनी होनहार से प्रेरित जो इस जन्म में मिल गये, उन्हें कुटुम्ब कहता है। स्वयं तो अकेला जन्मता है। मर कर भी तुझे अकेला ही होना है, परन्तु ममता की परिधि में सारे संसार को समेटना चाहता है। तीनों लोकों में भटकता फिरता है, कहीं शरण नहीं मिलती, फिर भी संसार की वास्तविकता को समझना नहीं चाहता"—

या चेतन की सब सुधि गई, व्यापत मोह, विकलता भई।
है जड़-रूप अपावन देह, तासों राखै परम स्नेह।
आय मिलैं जन स्वारथ बंध, तिनहिं कुटुम्ब कहै मतिमंद।
आप अकेलौ जनमै-मरै, सकल लोक की ममता धरै।
भरमत फिरै, न पावइ ठौर, ठानै मूढ़ और की और।

—बनारसीदास

एक प्राचीन पद में यही बात इस प्रकार कही गई—"रे मन ! तू सदा अकेला ही तो है। तेरा सगा साथी कोई नहीं है। अपने भाग्य का सुख या दुख तू अकेले ही तो भोगता है। कुटुम्बी जनों में से कोई भी उसमें साझीदार नहीं हो पाते। समय आने पर वे सब ऐसे बिछुड़ जते हैं जैसे मेले में एकत्र हुए लोग शाम होने पर, एक दूसरे से जुदे, अपनी-अपनी राह चले जाते हैं"—

जीव तू भ्रमत सदीव अकेला,
संग साथी कोई न तेरा...।

अपना सुख-दुख आपहिं भुगतै, होत कुटुम्ब न मेला।
समय परैं सब बिछुरि जात हैं, विघट जात ज्यों मेला।

—पं. भागचन्द

एक शायर ने कहा है—"समय पड़ने पर कौन किसका साथ देता है ? औरों की तो छोड़िये, अंधेरा घिरने पर अपने तन की छाया भी जाने कहां विलीन हो जाती है"—

सियह-बख्ती में कब कोई किसी का साथ देता है,
कि तारीक़ी में साया भी जुदा होता है इन्साँ से।

(सियह बख्ती-दुर्दिन)

एकत्व भावना में यही चिन्तन करना है कि मैं अंतत: अकेला ही हूं। मैं अकेला ही शुभ-अशुभ कर्म करता हूं और समय आने पर अकेले

ही उनके फल भोगता हूं। मेरे अपने कहे जाने वाले लोग, मेरे हितैषी और शुभ-चिन्तक, कितना भी खेद करें, कैसी भी भावनाएं प्रदर्शित करें, परन्तु वे मेरा कोई दुख और कष्ट कभी बांट नहीं सकते। कर्म का फल भोगने के लिये भारी भीड़ में भी, मैं अकेला ही हूं। जन्म और मरण में मेरा कोई सगा साथी नहीं है। अकेला आया हूं और अवधि पूरी होने पर यहां से अकेले ही मुझे जाना है।

दो-चार दिन के लिये यात्रा पर निकलता हूं तब मार्ग के लिये अनेक प्रकार की तैयारियां करके ही प्रस्थान करता हूं। एक दिन अचानक इस अनजानी महायात्रा पर भी मुझे जाना है। उस यात्रा को टाला नहीं जा सकेगा। तब क्या उस यात्रा के लिये मैंने कोई तैयारी की है ? कब करुंगा मैं वह प्रबंध जो मेरे उस अनजाने पथ का पाथेय बन सके ?

4th Meditation

SOLITARY CONDITION OF SOUL

Single Cometh ye,
And goeth alone;
None saw a companion
That followeth the Soul.

5. अन्यत्व भावना

जहां देह अपनी नहीं, तहां न अपनौ कोय,
घर-सम्पति पर, प्रगट ये पर हैं परिजन लोय।

प्राणी तथा पुद्गल परस्पर में सदा से हैं मिले,
पर हैं पृथक के पृथक दोनों, नीर-पय ज्यों हों हिले।
अतएव जब संसार में तन भी तुम्हारा है नहीं,
तब धन तथा परिजन तुम्हारे भला हो सकते कहीं ?

माता के उदर में जन्म के पूर्व ही जो मुझे प्राप्त हो गई थी, और मरणकाल तक जो मुझसे पृथक नहीं होगी, ऐसी देह भी मेरी अपनी नहीं है। उसे भी एक दिन यहीं छोड़कर जाना होगा।

जब यह देह ही अपनी नहीं है, तब और कोई प्राणी या पदार्थ मेरे अपने हो सकते हैं ऐसी कल्पना ही व्यर्थ है। यह भवन और भूमि, ये वाहन, वसन और व्यापार, ये सब तो प्रगट रूप से "पर" हैं ही, किन्तु ये सभी संबंधी, परिवारजन, नाते-रिश्तेदार, मित्र और समाज, वे सब, जिनके साथ मैंने अपने एकत्व की कल्पना कर रखी है, वे भी मुझसे जुदे ही हैं। मेरा अस्तित्व अलग है, उनका अस्तित्व अलग है।

कबीर ने कहा—"छोटे से जीवन में माया का ढेर और मेरे-तेरे के रिश्ते जोड़ना ही व्यर्थ है। धन-सम्पत्ति की तो बात ही क्या, एक दिन यह देह भी यहीं छूट जायेगी। सबको अकेले ही यहां से जाना पड़ेगा। एक दिन यह सिद्ध हो जायेगा कि यहां कोई किसी का नहीं है। संसार में सब अकेले ही हैं। घर की नारी की तों बात ही क्या, एक दिन तन की नाड़ी भी छूट जाने वाली है"—

क्या करिये, क्या जोड़िये, थोड़े जीवन काज,
छांड़ि-छांड़ि सब जात हैं, देह, गेह, धन, राज।

इक दिन ऐसा होयगा, कोउ काहू का नांहिं,
घर की नारी को कहै, तन की नारी जाहि।

तुलसीदासजी ने एक स्थान पर कहा—"जड़ और चेतन दोनों प्रथक स्वभाव वाले द्रव्य हैं। दोनों की संजात से संसारी जीवन का निर्माण हुआ है। यद्यपि वह भागीदारी अवास्तविक है, पर, इस गांठ को खोलना, इस द्वैत को सही-सही समझना, अत्यंत कठिन है"—

जड़-चेतनहिं ग्रन्थि परि गई,
जदपि मृषा, छूटत कठिनई।

मंगतरायजी ने अपनी सुगम शब्दावली में कहा—

तू चेतन, यह देह अचेतन, यह जड़, तू ज्ञानी,
मिले अनादि, जतन सों बिछुरैं, ज्यों पय अरुपानी।
रूप तुम्हारा सबसों न्यारा, भेद-ज्ञान करना,
जौलौं पौरुष थकै न तौलों, उद्यम सों चरना।

जगत के समस्त चेतन प्राणियों को, और अचेतन पदार्थों को अपने से प्रथक, भिन्न समझना ही अन्यत्व भावना का अभिप्राय है। जैसे म्यान में रहने वाली तलवार म्यान से अलग है, उसी प्रकार शरीर

में रहने वाली आत्मा भी शरीर से अलग है। मेरी आत्मा चेतन है, शरीर अचेतन है। आत्मा ज्ञानमय है, शरीर ज्ञान-शून्य है। आत्मा स्वाधीन है, शरीर इन्द्रियों द्वारा पराधीन है। आत्मा सदा मेरा अपना है, शरीर सदा मेरा नहीं है।

क्रोध-मान, माया-लोभ, राग-द्वेष, ये सब आत्मा में उत्पन्न होने वाले विकार हैं। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी और कष्ट तथा रोग आदि शरीर के विकार हैं। आत्मा नित्य है, शरीर अनित्य है। आत्मा अविनश्वर है, शरीर नाशवान है।

एक प्राचीन पद में कहा गया कि—"शरीर में ममता रखने का कोई अर्थ नहीं। इस नासमझी को छोड़ना चाहिये। यह तुझसे बिलकुल प्रथक है, और नाशवान है। इसका कितना ही पोषण तू करता रहे पर इसमें तरह-तरह के मल ही उत्पन्न होंगे। अनादिकाल से इसी की ममता के कारण तू कर्म की डोर में उलझा हुआ है। क्योंकि संसार के सारे नाते रिश्ते शरीर के ही माध्यम से जुड़ते हैं। यह सदा अचेतन है, तू चेतन होकर भी, मोह के कारण, बलात् इसे अपना मान रहा है—

छांड़ि दै या मति भोरी, वृथा तन सों रति जोरी।
यह पर है, न रहै थिर, पोषत, सकल कुमल की झोरी।
यासों ममता करि अनादि तैं, बंध्यौ करम की डोरी।
यह जड़ है, तू चेतन, यों ही अपनावत बरजोरी।

—दौलतराम

मेरे जन्म से पूर्व, जब यह शरीर नहीं था, तब भी आत्मा के रूप में "मैं" था। मरण के बाद जिस गति में, जिस शरीर में मुझे नया जन्म लेना है, वहां भी मैं अपने सम्पूर्ण चैतन्य के साथ, "मै" ही रहूंगा। मेरा कभी न जन्म हुआ, न कभी मेरा विनाश होगा।

जब एकमेक दिखाई देने वाला यह शरीर ही अपना नहीं है, तब स्पष्ट ही प्रथक दिखाई देने वाले पति या पत्नी, पुत्र या पुत्री, धन और सम्पत्ति मेरे अपने कैसे हो सकते हैं ? जब उनका संयोग सदा रहना नहीं है, तब उनके साथ मोह-ममता का अर्थ ही क्या रहा ?

जैसे किरायेदार मकान से व्यामोह न बढ़ाकर, उसे पराया समझता हुआ ही उसमें निवास करता है, उसी प्रकार मुझे उस शरीर को अपने से प्रथक समझते हुए, इसके माध्यम से अपना उत्कर्ष करने

का प्रयत्न करना चाहिये। भगवद्-भक्ति, जप-तप, पूजन-दान और परोपकार के कार्यों में समय रहते इस शरीर का उपयोग कर लेना चाहिये।

5th Meditation :

SOUL BEING SEPARATE FROM BODY

Whence the body thou not,
How others are thee;
House, wealth and else visible
Are aloof from the unseen Ye.

6. अशुचि भावना

दिपै चाम चादर मढ़ी, हाड़ पींजरा देह,
भीतर यासम जगत में, और नहीं घिनगेह।

जो पल रुधिर-मल-राध अथवा कीकशादिक से भरी,
संसार में जिसने सदा ही अशुचिता पैदा करी।

जो सदा ही नौ मार्ग से नित मल बहाती ही रहे,
ऐसी अपावन देह को, हे जीव तू क्योंकर चहे ।।

गोरी-काली या सांवली चमड़ी से मढ़ा हुआ यह शरीर सुभग और सुन्दर लगता है, परन्तु वास्तव में तो यह हड्डियों का पिंजर मात्र ही है। ऊपर का चर्मावरण ही शरीर को आकर्षक और प्रभावक बनाये रखता है अन्यथा भीतर से वह मल-मूत्र आदि घिनावने पदार्थों को ही उत्पन्न करनें वाला संस्थान हैं। तरह-तरह के वही शारीरिक मल उसके नव-द्वारों से निरन्तर स्रवित होते रहते हैं। शरीर का यही वास्तविक रूप है।

भूधरदासजी ने ब्रज्रनाभि चक्रवर्ती के वैराग्य-परक चिन्तवन को रूपायित करते हुए देह का परिचय दिया—"यह अत्यंत अपवित्र प्रतिक्षण क्षीण होने वाली और घिनावनी है। इसके आश्रित भोग निस्सार हैं। समुद्र के जल से भी धोया जाय तो भी इसकी अशुचिता

नहीं जा सकती। सात धातुओं और अनेक मलों से निर्मित यह देह सुन्दर चमड़ी के कारण भले ही सुहानी लगे, परन्तु यदि अंतरंग में विचार करें तो जगत में इसके समान अपवित्र कोई दूसरा पदार्थ मिलना कठिन है।"

—"जहां नौ द्वारों से निरंतर ऐसे मल विसर्जित होते रहते हैं जिनका नाम भी घृणास्पद है, जहां अनेक व्याधियों का निवास हो, वहां रच-पचकर सुखी होने की अभिलाषा कौन विवेकवान करेगा ?—

देह अपावन, अथिर घिनावन, यामें सार न कोई।
सागर के जल सों सुचि कीजै, तो भी सुचि नहिं होई।

सात कुधातुमई मल-मूरति, चाम लपेटी सोहै।
अंतर देखत या सम जग में, और अपावन को है ?

नव मल-द्वार स्रवैं निसि-वासर, लियैं नांव घिन आवै।
व्याधि-उपाधि अनेक जहां तहं, कौन सुधी सुख पावै।

इस शरीर का स्वरूप मोहित होने जैसा नहीं है। इसका व्यामोह त्यागना ही चाहये। यदि मुझे सबल और समर्थ शरीर मिला है तो उसके माध्यम से जितनी बन सके उतनी साधना कर लेनी चाहिये। यही सार इस शरीर से प्राप्त किया जा सकता है—

राचन जोग सरूप न याकौ, विरचन जोग सही है।
यह तन पाय महा तप कीजै, यामें सार यही है।।

—पार्श्व पुराण/3:86-90

रत्नावली की सौन्दर्य-सरिता में आकण्ठ डूबे तुलसीदास, एक दिन सारी लोकलाज खोकर, मौत को भी चमका देकर, असमय में पत्नी की अटारी पर पहुंच गये। तब उस विवेकवान महिला ने यही कहकर उन्हें भक्ति के सन्मार्ग पर लगाया था कि —"मेरे इस हाड़-मांस के शरीर में जितनी तुम्हारी आसक्ति है, उससे आधी भी यदि भगवान् में होती तो तुम्हारा बेड़ा पार हो गया होता।"—

अस्थि-चर्म मय देह मम, ता में ऐसी प्रीति,
होति जो कहुं रघुनाथ संग, रहति न तौ भव-भीति।

आत्म-साधना, भगवद्-भक्ति और परोपकार में नियोजित कर लेना ही मेरे इस शरीर की उपयोगिता है। यह स्वभाव से तो मलिन था

ही, मैंने इन्द्रियों के वश होकर विषय-भोगों से इसे और भी मलिन बना रखा है।

इसी प्रकार स्वभाव से निर्मल और पवित्र अपनी आत्मा को भी मैंने अज्ञान और वासनाओं से प्रेरित होकर, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, भय, चिन्ता, घृणा और रति-अरति आदि विकारों से मलिन बना लिया है। इसीलिये संसार में मेरी दुर्दशा हो रही है।

मैंने अपनी देह को बार-बार धोया-नहलाया। सुगंधित पदार्थों का उस पर लेपन किया। परन्तु माला-चन्दन आदि वे पदार्थ ही मेरे स्पर्श मात्र से अपनी पवित्रता खो बैठे। शरीर की अशुचिता जरा भी कम नहीं हुई।

यदि मैं अपने आपको एक बार भी राग-द्वेष आदि विकारों से, और परिग्रह के व्यामोह से रहित कर सकूं तो मेरी सारी अंतरंग और बहिरंग मलिनताएं सदा के लिये दूर हो सकती हैं। जिन्होंने अपनी सांसरिक मोह-ममता को क्षीण कर लिया वे संसार के दुःखों से भी ऊपर उठ गये। क्या मुझे अपने लिये भी यह प्रयत्न नहीं करना चाहिए ?

6th Meditation

THE IMPURITY OF BODY

Encased within the film of Skin,
Body—a Skeleton of Flesh and bone;
Nowhere is seen an ugly a thing,
Throughout the Wordly zone.

7. आस्रव भावना

मोह नींद के जोर, जगवासी घूमैं सदा,
करम चोर चहुं ओर, सरवस लूटैं, सुधि नहीं।

मन-वचन-तन त्रय-योग द्वारा, कर्म-जल नित आ रहा,
नर-देह नौका से तुम्हें, जग-जलधि बीच डुबा रहा।
जिससे तुम्हें था पार होना, डूब तुम उसमें रहे,
सोचो जरा जग-जलधि में, नौका न जिससे थक रहे।

मन-वाणी और शरीर, यही तीन हमारी शक्तियां हैं। हम दिन-रात जो कुछ भी शुभ या अशुभ करते हैं, वह इन्हीं तीन शक्तियों के द्वारा करते हैं। इन्हीं तीन की सक्रियता या अस्थिरता से हम अपने लिये नवीन कर्मों का अर्जन भी कर लेते हैं।

हमारे ये मन-वचन-काय, हमारे जाने-अनजाने, सोते-जागते, आठों याम सक्रिय रहते हैं, इसलिये हमारी आत्मा की ओर नवीन कर्मों का प्रवाह भी निरन्तर, आठों-याम होता रहता है। यही कर्म का आस्रव है। आये हुए कर्मों का अपनी शक्तियों, सहित, किसी निश्चित अवधि के लिये, आत्मा के साथ अनुबंधित हो जाना "कर्म-बंध" है।

जहां हम भगवद् भक्ति, आत्म-चिन्तन, जप-तप और दान-पूजा परोपकार आदि शुभ कार्य करते होते हैं, तब शुभ कर्म का अर्जन होता है। शुभ कार्यो के बिना हमारा जो भी समय बीतता है, उसमें हम नियम से अशुभ कर्म का आस्रव करते हैं। हमारे पूर्व कर्मों का उदय, वर्तमान में पुरुषार्थ की विपरीतता, और राग-द्वेष-मोह के संस्कार, आस्रव और बंध के कारण हैं।

यह लगभग ऐसा है जैसे किसी छिद्र वाली नौका में, अन्य किसी कारण के बिना, निरन्तर, अपने आप पानी भरता रहता है। उससे नाव भारी होती जाती है। उसके डूबने की आशंका होने लगती है।

राग-द्वेष और मोह, अथवा पुण्य और पाप मेरे व्यक्तित्व के छिद्र ही तो हैं। इनके रहते मैं परिपूर्ण कहां हो पाता हूं ? मेरे व्यक्तित्व के इन्हीं छिद्रों से, या आत्मा की इन्हीं मलिनताओं के कारण, मैं प्रतिक्षण नवीन कर्मों का आस्रव और बंध कर रहा हूं। अनादि काल से यही मेरे साथ घट रहा है।

मोह-निद्रा में गाफिल मैं, अपनी सुध-बुध भूलकर भटक रहा हूं, और नित नये कर्मों का समूह आकर मेरी बहुमूल्य निधियों को, मेरे ज्ञान, विवेक और क्षमा, समता आदि गुणों को लूट रहे हैं।

बुधजन जी ने बहुत ठीक कहा है—

मोह नींद में सोवतां, बीत्यौ काल अटूट,
बुधजन क्यों जागै नहीं, कर्म मचावत लूट।

—अध्यात्म पदावली

कवि दौलतरामजी ने इसे इस प्रकार कहा—

—"रे मूरख मन ! तू मानता क्यों नहीं। मोह की मदिरा पीकर तू

तो बिल्कुल अचेत ही रहा है। तुझे अपनी जरा भी सुध-बुध नहीं है। अज्ञान और असंयम के कारण तू अनादिकाल से दुखी है। अब इस जनम में फिर उन्हीं में आसक्त हो रहा है। तूने अपने ज्ञान-अमृत का स्वाद नहीं चखा और सदैव विषय-कषायों में ही लुभाया रहा। यह शरीर, जिससे तू बहुत स्नेह कर रहा है, यह तो रोगों का घर है। विपत्तियों का आगार है। यह तो स्वभाव सें ही जड़, मलिन और निरंतर क्षीण होने वाला है। कर्मोदय से मिला हुआ यह शरीर, तेरी नासमझी के कारण, तेरे लिये बंधन बनकर आत्म-सुख में बाधक बन रहा है।—

मानत क्यों नहिं रे, मन-मूरख, सीख सयानी।
भयौ अचेत मोह-मद पी कें, अपनी सुध बिसरानी।

दुखी अनादि कुबोध अव्रत तैं, फिर तिनसों रति ठानी,
ज्ञान सुधा निज भाव न चाख्यौ, पर-परनति मति सानी।

देह एह गद-गेह, नेह इस, है बहु बिपति निसानी,
जड़ मलीन, छिन-छीन, करम-कृत, बंधन सिव-सुख हानी।

जड़ शरीर का स्वरूप ऐसा है तब कर्म के आस्रव का आधार क्या है ? उन्हीं कवि की पंक्तियों में देखें—

यों अजीव, अब आस्रव सुनिये—
मन, वच, काय, त्रियोगा,
मिथ्या, अविरति, अरु कषाय,
प्रमाद सहित उपयोगा।
ये ही आतम कों दुख कारण,
तातें इनकों तजिये।

—छहढाला/2-8

मन, वाणी और शरीर, ये तीनों योग कहे गए हैं। चेतना की परिणति को उपयोग कहा गया है। योगों की प्रवृत्ति तो संसारी प्राणी को अनवरत रूप से बनी ही रहती है। मन-वचन-काय का स्पन्दन किसी भी प्राणी के, कभी एक क्षण के लिये भी रुकता नहीं है।

जीव की चेतना का उपयोग अवश्य दो प्रकार का होता है। शुद्ध और अशुद्ध। जीव और जगत के बारे में गलत धारणाएं, विपरीत मान्यताएं ही "मित्यात्व" कही गई हैं। संयम से रहित

मन-वचन-काय की असंयत प्रवृत्तियां ही "अविरति" है। आत्मा का अपकर्षण करने वाले क्रोध-मान-माया और लोभ आदि विकार "कषाय" हैं। तथा कल्याणकारी साधना के प्रति उपेक्षा और अनादर का भाव प्रमाद है।

इन मिथ्या, अविरति, प्रमाद और कषाय भावों से विकारी हुआ उपयोग, "अशुद्ध उपयोग" कहा गया है। इस प्रकार तीन योग और चारों प्रकार का विकारी उपयोग नवीन कर्मों के आस्रव और बंध का कारण होता है।

भूधरदासजी ने मिथ्यात्व, असंयम तथा कषाय आदि मन की मलिनताओं को, तथा मन-वाणी और शरीर की अस्थिरता को, आस्रव का कारण बताने के बाद कहा—आस्रव कर्म-बंध का कारण है और कर्म-बंध ही चारों गतियों में दुख का हेतु है—

> **मिथ्या, अविरति, जोग, कषाय,**
> **ये आस्रव कारन-समुदाय।**
> **आस्रव करम बंध को हेतु,**
> **बंध चतुर्गति के दुख देत।**

—पार्श्व पुराण/7-100

इस प्रकार आस्रव से बंध होता है और हमारे संचित कर्मों का भार बढ़ता जाता है। संचित कर्म समय पाकर पकते हैं, वही प्रारब्ध है। प्रारब्ध का फल भोगने के लिये हमें बार-बार जन्म लेना पड़ता है और मर कर उन्हीं कर्मों के अनुसार दूसरी-दूसरी गतियों में पुनः जन्म लेना पड़ता है। अनादि काल से हमारे साथ अविद्या का यही जटिल खेल चल रहा है।

आस्रव का यह अंतहीन प्रवाह इसी प्रकार चलता रहेगा या मेरे लिये इससे बचने का कोई उपाय भी है ? क्या है वह उपाय ?

7th Meditation

ENFLOW OF KARMAS

> **Heated with various thoughts on Earth**
> **Thou ever suffered Death and Birth;**
> **Ah Chains of Desire electrified alround,**
> **Plundered ye, and thou kenw not.**

8. संवर भावना

सतगुरू देहिं जगाय, मोह नींद जब उपसमै,
तब कछु बनहि उपाय, करम चोर आवत रुकैं।

त्रय-गुप्ति पंच-समिति, परीषह और चारित से सभी,
रोक दो मन-काय-वच से, छिद्र नौका के सभी।
भारी न होकर यह तुम्हारी नाव तिरने के लिये—
जिससे समर्थ बने, तुम्हें भव-पार करने के लिए।

मोह के नशे में, अपने आपको भूलकर, संसार परिभ्रमण करते हुए जीव को जब कभी भगवान की भक्ति का सहारा मिल जाये, भगवान की वाणी पर विचार करने का पुरुषार्थ जाग जाये, या पूर्व जन्मों के वैसे संस्कार जाग्रत हो जाएं, तब सद्गुरुओं की टेर से यह मोह-निद्रा टूटती है।

आने वाले कर्मों में से कुछ अशुभ कर्मों का आस्रव रुक जाये, यह संवर का प्रारम्भ है। संवर के द्वारा नवीन कर्म-बंध कम होने लगता है। उधर प्रारब्ध निरंतर उदय में आकर घटता रहता है। इस प्रक्रिया से संचित कर्म में होने वाली बढ़ोत्तरी पर अंकुश लग जाता है। इसीलिये संवर को उपकारी या उपादेय कहा गया है।

आस्रव के पांच कारण बताये थे, मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद, कषाय और योग। इन कारणों का निवारण भी इसी क्रम से होता है।

मोह निद्रा का, या अविद्या का अभाव होने पर मिथ्यात्व चला जाता है। त्याग और संयम के द्वारा असंयम की समाप्ति होती है।

निरालस-साधना के द्वारा अपने आप में लीन हो जाने पर, समाधि के क्षणों में, प्रमाद से ऊपर उठकर साधक उप्रमत्त दशा में पहुंच जाता है।

कषायों का पूरी तरह अभाव हो जाने पर, आस्रव का मात्र एक कारण बचता है। वहां योगों की प्रवृत्ति ही शेष रह जाती है। मात्र योगों के द्वारा आने वाले कर्म, राग-द्वेष-मोह और प्रमाद के अभाव में, आत्मा के साथ एक क्षण के लिये भी बंध नहीं पाते। आते हैं और अनादृत-अतिथि की तरह बाहर से ही लौट जाते हैं। यही पूर्ण संवर है।

मुक्ति के एक क्षण पूर्व, मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों का भी

पूर्णत: निरोध हो जाता है। उसी समय जीव शरीर के बंधन से सदा के लिये मुक्त हो जाता है।

वास्तव में जीवन को कौशल के साथ, स्व-पर हितकारी बनाकर, विवेक-पूर्वक जीने की पद्धति ही संवर की पद्धति है।

किसी व्यक्ति पर एक लाख रुपये का ऋण है। वह हजार रुपये प्रतिदिन कमाता है, परन्तु वह पूरी राशि, या इससे कुछ अधिक, प्रतिदिन खर्च कर देता है। यदि कोई पूछे कि उसका ऋण कब चुकेगा, तो उत्तर यही होगा कि वह कभी भी ऋणमुक्त नहीं हो सकेगा। ऋण चुकाने का एक ही मार्ग है कि वह अपनी आय से व्यय कुछ कम करे। थोड़ी-थोड़ी राशि भी बचाता जाये तो एक दिन वह अवश्य ऋण-मुक्त हो सकता है।

पूर्व में अर्जित कर्मों का मुझ पर भारी ऋण है। संचित कर्म के रूप में जन्मान्तर से वे मेरे साथ लगे हैं। यद्यपि प्रतिक्षण उदय में आये हुए कर्मों का फल भोगकर मैं यह ऋण आठों याम चुका रहा हूं। परन्तु कर्म-फल भोगते समय मैं बहुत विक्षुब्ध हो जाता हूं। उस समय मैं अपने आपको अहंकार या संक्लेश में डुबो लेता हूं। इसका फल यह होता है कि जितना कर्म मैं भोगता हूं, लगभग उतना ही जीवन कर्म मेरे साथ बंध जाता है। प्राय: ऐसा भी होता है कि जितना कर्म मैं भोगकर समाप्त करता हूं, कर्म-फल में राग या द्वेष करके, उसी समय, उससे अधिक नवीन कर्म बाध लेता हूं।

मेरे साथ अनादिकाल से ऐसा हो रहा है। इसीलिये तो निरंतर अच्छे और बुरे कर्म-फल भोगते हुए भी, मेरे कर्मों का भार घट नहीं रहा। वह बढ़ता ही जाता है। यदि किसी प्रकार ऐसा हो सके कि मैं जितना कर्म भोगकर चुकाऊं, नवीन कर्म का आस्रव उससे कम मात्रा में करूं। तब अवश्य धीरे-धीरे मेरे कर्म का भार हल्का हो सकेगा।

आस्था और समझदारी के साथ जीने की एक ऐसी पद्धति है जिसे अंगीकार कर लेने पर, किसी हद तक, कर्मों का आस्रव रोकना सम्भव है। उसी पद्धति का नाम "संवर" है।

यह लगभग ऐसा ही है जैसे किसी छिद्र वाली नौका में, उसके छिद्र मूंदकर, पानी आने के मार्ग रुद्ध कर दिये जायें। नौका में पानी आना बन्द हो जाये और नाव में भार बढ़ने की प्रक्रिया रूक जाये।

हर बीज से एक पौधा तैयार होता है। उसमें सैंकड़ों बीज लगते

हैं। उन सबके द्वारा उतने ही पौधे तैयार हो सकते हैं। यह एक अनन्त-श्रृंखला चल सकती है। परंतु जो बीज अग्नि पर भून दिया जाता है वह फिर उगता नहीं है। उस बीज की श्रृंखला वहीं समाप्त हो जाती है।

मेरा उदय में आया हुआ कर्म भी एक बीज की तरह है। अपने समय पर पककर वह अपना स्वाद चखाने के लिये आया है। अपनी शक्ति के अनुसार वह मुझे सुखी या दुखी कर रहा है। परन्तु उसका फल भोगते समय में अहंकार या सं लेश की ऐसी मि्टी में उसे रोपता हूं, और हर्ष या विषाद का ऐसा खाद-पानी उसमें देता हूं, कि वह कई गुना होकर मेरे संचित कर्म में शामिल हो जाता है।

यदि कर्म के उदय और आस्रव-बंध को इस प्रक्रिया पर मेरी आस्था दृढ़ हो जाये तो मैं इस अनन्त श्रृंखला को तोड़ने का उपाय कर सकता हूं। यह तो सृष्टि का अटल नियम है कि हर जीत को अपने शुभाशुभ कर्म का फल भोगना ही पड़ता है। तब क्यों न उसे विधि का विधान मानकर मैं समता-पूर्वक भोगने की आदत डालूं? कर्म के फल में हर्ष-विषाद या रति-अरति करके, कर्म की नई पौध तैयार करने की यह नासमझी छोड़ दूं? क्यों न समतापूर्वक कर्म का फल भोगकर मैं उसे यहीं निःसत्व कर दूं?

कर्म के फल को भोगते हुए दो ही स्थितियां बन सकती हैं। या तो मैं उसे आगे के लिये अपनी भावभूमि में बो लेता हूं. या फिर अपने समता-संकल्प की आंच पर भूनकर उसके पुनः उगने की सारी संभावनाएं समाप्त कर देता हूं। कबीर ने एक जगह इसी रहस्य को उजागर किया है—

एक कर्म है बोवना, उपजै बीज बहूत,
एक कर्म है भूंजना, उगै न अंकुर सूत।

कर्मास्रव के पांच कारण बताये गये थे। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इन पांच के उत्तर भेद सत्तावन होते हैं। आस्रव को रोकने वाले संवर के भी इतने ही भेद हैं। दैनिक व्यवहार में पांच प्रकार की सावधानियां, पंच समिति हैं। अहिंसा, सत्य, असतेय, शील और अपरिग्रह ये पांच महाव्रत हैं। इनके साथ क्षमा आदि दस धर्म, बारह भावनाएं, साधना-पथ में सम्भावित बाइस प्रकार की

असुविधाओं परिषहों पर विजय, और मन, वचन तथा काय को स्थिर और एकाग्र करने वाली तीन गुप्तियां, ये सब मिलकर संवर के सत्तावन उपाय कहे गये हैं। इसी बात को मंगतरायजी ने इन पंक्तियों में कहा है—

> **पंच महाव्रत, समिति, गुप्तिकर वचन-काय-मनको,**
> **दसविध-कर्म, परीषह-बाइस, बारह भावनको।**
>
> **यह सब भाव सतावन मिलकर, आस्रव को खोते,**
> **सुपन दशा से जागे चेतन, कहां पड़े सोते।**

मंगलरात/बारह भावना

पण्डित दौलतरामजी की व्याख्या बहुत सरल है—जिन्होंने पुण्य और पाप दोनों की आसक्ति तोड़कर आत्म-साक्षात्कार करने का प्रयास किया, उनके आते हुए कर्म रूक गए। उन्हें संवर प्राप्त हो गया। उन्होंने समता के अलौकिक सुख का आनन्द उठा लिया।

> **जिन पुण्य पाप नहिं कीना,**
> **आतम अनुभव चित दीना।**
> **तिनही विधि आवत रोके,**
> **संवर लहि सुख अवलोक।**

—छह ढाला/5-8

संवर के समीकरण कठिन नहीं हैं। यदि शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों से आसक्ति हटाकर, मैं अपनी निरुद्विग्न आत्मा का अनुभव कर सकूं, उसके चिंतन में तल्लीन हो सकूं, तो आने वाला कर्मों का प्रवाह मंद होगा, और रुकेगा। यही संवर है/यही संवर का फल है।

8th Meditation

STOPPAGE OF KARMAS

Whence light reflected by the Science Divine,
Broke the Desires unto the dust;
Onward it traced a path to tread
For the Soul to escape from the idea's crust.

9. निर्जरा भावना

ज्ञान द्वीप, तप तेल भर, घर सौधै, भ्रम छोर,
या विधि बिन निकसैं नहीं, पठे पूरब चोर।

पंच महाव्रत संचरन, समिति पंच परकार,
प्रबल पंच-इन्द्रिय विजय, धार निर्जरा सार।

पूर्व का संचित किया जो, कर्म रूपी नीर है,
जिससे तुम्हारी नाव देखो, डूबने में लीन है।
संकल्प में जुट कर अहर्निशि, जब उलीचोगे सभी,
संसार-सागर पार यह, नौका तुम्हारी हो सभी।

साधना के मार्ग में ज्ञान को दीपक बनाना है। उसमें विराग का तेल भरना है। इस दीपक के सहारे ही मोह के अंधकार को काटकर, मैं अपना आत्मावलोकन कर पाऊंगा। इसके बिना पूर्व से बैठे हुए कर्म रूपी चोर बाहर नहीं निकलते। अपनी साधना में ज्ञान और वैराग्य का सामंजस्य बिठाकर ही मैं अपने संचित कर्मों को निःसत्व कर सकता हूं। ध्यान-समाधि की विशुद्ध भूमिकाओं में बैठकर, तप-त्याग आदि अनुष्ठानों के द्वारा, कर्म के समूह को, फल देने के पहले ही समाप्त कर देना है। इस विष-बीज को अंकुराने के पहले ही जला देना है। उसकी घातक शक्तियों को नष्ट कर देना है। मुक्ति-मार्ग की इसी वैज्ञानिक प्रक्रिया का नाम निर्जरा है।

यह ल[illegible] ऐसा है जिस छिद्र वाली नौका में, छेद मूंदने से पानी का आना बन्द हो गया है, उसमें भरे हुए पानी को उलीचकर निकालना। जिससे नौका भार-रहित होकर संतरण के योग्य हो जाये।

अनेक जन्मों में अर्जित किये हुए मेरे कुटिल कर्मों की निर्जरा के लिये ज्ञान के साथ उत्कृष्ट चारित्र भी अनिवार्य है। भूधरदासजी ने कहा—तप के द्वारा पूर्व के बंधे हुए कर्म नष्ट होंगे, और यथार्थ ज्ञान के रहते नवीन कर्मों का बंध नहीं होगा। ऐसी आस्रव-रहित, या संवर-सहित निर्जरा ही अक्षय सुख का हेतु बन सकती है। वही निर्जरा मुझे भव-सागर से तारने में सहायक होगी—

तप बल पूर्व कर्म खिर जाहिं,
नये ज्ञान बल आवत नाहिं।
यही निर्जरा सुख दातार,
भव तारन कारन निरधार।

—भूधरदास/पार्श्व पुराण/7-102.

वैसे तो संसार के प्रत्येक प्राणी के कर्म, उदय में आकर, अपना फल देकर प्रति समय खिरते ही रहते हैं। सब को सदा निर्जरा हो रही है। परन्तु साधना के मार्ग में ऐसी सहज निर्जरा, या "सविपाक निर्जरा" का कोई महत्त्व नहीं है। यहां तो वह निर्जरा प्राप्त करना है जिसमें तप के माध्यम से, असमय में, कर्म की सत्ता को, फल देने के पहले ही नष्ट कर दिया जाये।

दौलतरामजी ने यही तो कहा—अपने समय पर, क्रम से तो कर्म झरते ही रहते हैं। उस निर्जरा से अपना कोई काम नहीं बनता। जो साधक तप की अराधना करके कर्मों की निर्जरा करेगा, वही मुक्ति का पात्र होग

निज काल पाय विधि झरना,
तासों निज काज न सरना।
तप करि जो करम खिपावै,
सोई शिव-सुख दरसावै

—छहढाला/5-9

यह ऐसा है जैसे आम का फल डाल पर पकता है, तब उसमें समय लगता है। उसी फल को किसान पाल में डालकर शीघ्र पका लेता है। इसी तरह तप के द्वारा समय से पूर्व ही कर्म की धारा को सुखा देना "अविपाक-निर्जरा" है। वही हमारे लिये आराध्य है।

मंगतरामजी ने कहा—संवर आते हुए कर्मों को रोक देता है। फिर जैसे ग्रीष्म को तपन से सरोवर का जल सूख जाता है, उसी तरह निर्जरा सत्ता में बैठे हुए कर्मों को सुखाकर निःसत्व कर देती है। उदय में आये कर्म का भोग तो सविपाक निर्जरा है, जैसे कोई फल डाल कर पक गया हो। लेकिन कार्यकारी तो दूसरी अविपाक निर्जरा है, जैसे माली ने पाल में डालकर पूर्व ही फल को पका लिया हो। पहले प्रकार की निर्जरा तो

सबको हर समय होती रहती है, इससे तेरा कोई लाभ नहीं। हां यदि तू पुरुषार्थ करके, अविवाक निर्जरा कर सके तो तेरा भ्रमण समाप्त हो सकता है।—

> **ज्यों सरवर जल रूका सूखता, तपन पड़ैं भारी।**
> **संवर रोकै कर्म, निर्जरा ह्वै सोखनहारी।।**
>
> **उदय-भोग सविपाक, समय पक जाय आम डाली।**
> **दूजी है अविपाक, पकावै पाल विषैं माली।।**
>
> **पहली सबकें होय, नहीं कुछ सरै काम तेरा।**
> **दूजी करै जु उद्यम करकै, मिटै जगत फेरा।।**

निर्जरा के लिये जीवन में संयम का आना अनिवार्य है। ज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें करने से कुछ नहीं होगा। दुर्लभ मनुष्य पर्याय का महत्व आंकना होगा। समय रहते आत्म-कल्याण के लिये पुरुषार्थ करना होगा।

धर्म और साधना की बातें, जितनी तू समझता है, उन सबको अपने संकल्प में उतार। जितना संकल्प किया है उस पर ईमानदारी से आचरण कर। मनुष्य भव में ही यह अवसर मिलता है। यह बीत गया तो अननन्त काल तक दुबारा मिलने वाला नहीं। जितना ले सके, समय रहते इस दुर्लभ पर्याय का लाभ ले लेना ही समझदारी है।—कबीर की यही परामर्श है—

> **गाँठि होय सो हाथ कर, हाथ होय सो देह,**
> **आगे हाट न बानियां, लेना होय सो लेह।**

जीवन में आंतरिक पवित्रता का आविष्कार करके, सम्यक् पुरूषार्थ की ऊष्मा से, संचित कर्मों के समूह को नष्ट करने का प्रयास ही निर्जरा भावना का वास्तविक चिन्तन है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रम्हचर्य और अपरिग्रह, इन पांच बातों की मर्यादा में बंधा हुआ आचरण, प्राणि-हिंसा को बचाते हुए सुविचारित और संयमित जीवन-पद्धति, तथा पांचों इन्द्रियों पर नियंत्रण, यही निर्जरा के उपाय हैं। इन उपायों का निरंतर चिन्तवन करते हुए मैं अपने लिये ऐसे संयमित जीवन की अभिलाषा हूं।

9th Meditation

SHEDDING OF KARMAS

**Followed by the lamp of Wisdom,
And sacrifice — as oil lit;
Ran ye to get out the prison
Of the atomic idea's knit.**

10. लोक-भावना

**चौदह राजु उतंग नभ, लोक पुरुष संठान,
ता में जीव अनादि सों, भरमत है बिन-ज्ञान।**

**नभ में चतुर्द्दश राजु परिमित एक लोकाकाश है,
है स्वयंसिद्ध अनादि से कर्त्ता न हर्त्ता खास है।
धर स्वांग नानाभांति इसमें जीव सहता त्रास है,
इसके उपरि अष्टम धरा ही सिद्ध सुख की रास है।।**

पाताल से लेकर परमस्थान की ऊंचाई तक यह लोक चौदह राजू ऊंचा कहा गया है। इसका आकार खड़े हुए पुरुष के समान बताया गया है। इसी विशाल लोक में जीव अनादिकाल से अपने ही अज्ञान के कारण भ्रमण कर रहे हैं।

विराट् ब्रम्हाण्ड में जन्म-मरण करते हुए अनन्त जीवों की, भूत-भविष्य और वर्तमान की पीड़ाओं का विचार करना ही लोक-भावना का हेतु है। सृष्टि के अनन्त विस्तार में अपनी स्थिति का आकलन करना, और अपनी पीड़ा का कारण ढूंढ़ना इसका मूल अभिप्राय है।

भागवत् में विश्व-रूप दर्शन का भी यही अभिप्राय है। गीता में लोक की व्याख्या करते हुए कहा गया—इस संसार रूपी वृक्ष की शाखाएं ऊपर और नीचे सब ओर फैली हुई हैं। तमस्-रजस् और सत्व गुणों द्वारा इस वृक्ष का पोषण होता है। पांचों इन्द्रियों के विषय इस वृक्ष की टहनियां हैं। विषय-भोगों से ही इसका विस्तार होता है। इसकी जड़ें बहुत गहरी हैं, मनुष्य जन्म में ही शुभाशुभ कर्मों के अनुसार इसके अनुबंध में परिवर्तन सम्भव है।

—"लोक का वास्तविक रूप ज्ञात होना कठिन है। न तो इसका कोई प्रारम्भ है, न इसका कहीं अंत है। इसका कोई आधार भी नहीं है। अश्वस्थ के समान गहरी जड़ों वाले इस संसार वृक्ष को अनासक्ति या वैराग्य के कुठार से बल-पूर्वक काटना है।"—

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।
न रूप मस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरुढ़मूल मसंगशस्त्रेण दृढ़ेन छित्वा।

—भगवद् गीता/15-2-3

—डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन की टीका से

महाभारत में भी लोक को वृक्ष की उपमा देकर कहा गया—"समस्त प्राणियों का निवास यह जगत, पत्र-पुष्पों से सदा संयुक्त ऐसे वृक्ष केसमान है जिसमें पाप-पुण्य के फल लगते रहते हैं। यह वृक्ष सदैव स्वतः हरा-भरा और शास्वत है। सदा सनातन है और सदा रहेगा।

सदापर्णः सदापुष्पः, शुभाशुभ फलोदयः,
आजीव्य सर्वभूतानां, ब्रम्हवृक्षः सनातनः।

—महाभारत/अश्वमेघ पर्व/35-37-14.

कबीर-वाणी का एक प्रसंग है—जन्म-मरण के चक्र में फंसकर भटकने के लिये तीनों लोक तो पिंजरे के समान हैं। पाप और पुण्य उस पिंजरे में फंसाने वाले जाल हैं। काल अकेला शिकारी है और सृष्टि के सभी जीव उसके शिकार हैं

तीन लोक भौ पींजरा, पाप-पुण्य भये जाल,
सकल जीव सावज भये, एक अहेरी काल।।

दौलतरामजी ने अपने ग्रन्थ में लोक भावना की व्याख्या की—यह लोक किसी का बनाया हुआ नहीं है। कोई इसे धारण भी नहीं कर रहा। यह छह द्रव्यों के समूह से स्वतः अनादिकाल से स्थित है। कभी इसका विनाश भी होनेवाला नहीं है। इस अनादि-अनन्त लोक में यह जीव, परिणामों की समता के अभाव में, अथवा राग-द्वेष-मोह आदि विषमताओं के कारण, तरह-तरह के दुख सहता हुआ, अनादिकाल मे

परिभ्रमण कर रहा है।—

किनहूं न करो, न धरै को,
षट् द्रव्यमयी, न हरै को।
सो लोक मांहिं बिन समता,
दुख सहै जीव नित भ्रमता।

—छहढाला/5-12.

यह संसार छद द्रव्यों का समुदाय है।
पहला चेतन जीव द्रव्य (Soul) है।
दूसरा अचेतन अजीव द्रव्य (Matter) है।
तीसरा उन दोनों की गति में सहायक होने वाला धर्म द्रव्य (Medium of Motion) है।
चौथा उन दोनों की स्थिति में सहायक होने वाला अधर्म द्रव्य (Medium of rest) है।
पांचवा सभी द्रव्यों को अपने में समाहित रखने वाला आकाश द्रव्य (Space) है।
छठवां सभी द्रव्यों के परिणमन में सहायक काल द्रव्य (Time) है।

इनमें सिर्फ जीव ही चेतन है। शेष सभी द्रव्य चेतना-विहीन हैं। जड़ हैं। सिर्फ पुद्गल ही रूपी है। इसमें रूप-रस-गंध और स्पर्श पाये जाते हैं। शेष पांचों द्रव्य अरुपी हैं। उनमें रूप-रस-गंध-स्पर्श नहीं होने के कारण इन्द्रियों के माध्यम से उन्हें जाना भी नहीं जा सकता।

काल को छोड़कर शेष पांच द्रव्य "बहु-प्रदेशी" होने के कारण "पंच-अस्तिकाय" कहे गये हैं। काल को एक प्रदेशी होने के कारण "अस्तिकाय" में नहीं गिना गया।

जीव और पुद्गल, ये दो द्रव्य संख्या में अनन्त हैं। प्रत्येक जीव प्रथक् अस्तित्व वाला, एक स्वतंत्र और अखण्ड द्रव्य है। पुद्गल अपने सूक्ष्मतम रूप में, परमाणु रूप में अखण्ड है। अधिक परमाणुओं से मिलकर उसका जो "स्कंध" रूप बनता है, वह खण्डित भी होता रहता है। काल द्रव्य भी अनन्त हैं।

जीव और पुद्गल कुछ शुद्ध भी हैं, परन्तु ये अधिकांश तो अशुद्ध ही हैं। सभी मुक्त जीव शुद्ध हैं। सभी संसारी जीव अशुद्ध हैं। पुद्गल

अपने परमाणु रूप में शुद्ध और स्कंध रूप में अशुद्ध माना गया है।

स्थूल शरीर, सूक्ष्म-शरीर या संचित कर्मों का समूह, तथा राग-द्वेष-मोह आदि विकारी भाव, यही तीन जीव के साथ लगे हुए मल हैं। इन तीनों से युक्त होकर संसार में भ्रमण करना जीव की अशुद्धि है। इन तीनों से मुक्त होने पर ही जीव शुद्ध होता है। तब वह लोक के सबसे ऊपरी भाग में सदा के लिये स्थित हो जाता है। यही जीव का मोक्ष है।

एक बार शुद्ध हुआ जीव फिर कभी अशुद्ध होकर संसार में नहीं आता। पुद्गल द्रव्य बार-बार अशुद्ध से शुद्ध, और शुद्ध से अशुद्ध होता रहता है।

शेष चारों द्रव्य, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, सदा शुद्ध ही हैं।

जीव और पुद्गल, ये दो सक्रिय द्रव्य हैं। कारण पाकर ये लोक में सर्वत्र भ्रमण कर सकते हैं, करते रहते हैं। शेष चारों द्रव्य निष्क्रिय हैं। वे सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं और कभी स्थानान्तरित नहीं होते।

ये छहों द्रव्य सम्पूर्ण लोक में सर्वत्र व्याप्त हैं। वास्तव में इन छह द्रव्यों के समूह का नाम ही संसार है।

ये छहों द्रव्य सत् हैं। नित्य हैं और अकृत्रिम हैं। इन्हें किसी ने बनाया नहीं। ये कभी नष्ट भी नहीं होंगे।

इसलिये जगत भी सत् है। नित्य है और अकृत्रिम है।

इस लोक में मैं अपने अज्ञान के कारण विकारी बना हुआ, चार गतियों की चौरासी लाख योनियों में, अनादि काल से जन्म-मरण करता भटक रहा हूं। सभी जीव इसी प्रकार भव-भ्रमण कर रहे हैं।

यदि संवर के द्वारा नवीन कर्मों का आस्रव रुक जाये, और तपस्या आदि प्रयोगों के द्वारा संचित कर्मों का समूह नष्ट हो जाये, उनकी निर्जरा हो जाये, तो मेरा यह भव-भ्रमण मिट सकता है।

मोह कर्म ने मेरे स्वाभाविक ज्ञान पर अविद्या का परदा डाल कर उसे विकारी कर रखा है। मैं आते हुए कर्मों को रोक नहीं पा रहा, और संचित कर्मों को नष्ट नहीं कर पा रहा। संवर और निर्जरा से मेरा कभी परिचय भी नहीं हुआ। इसीलिये मेरे संचित कर्मों का भार बढ़ता ही जा रहा है। इन्हीं कर्मों का फल भोगने के लिये मुझे बार-बार जन्म लेना पड़ता है। बार-बार मरना पड़ता है।

भूधरदासजी ने अपने भगवान से कर्म की शिकायत करते हुए मेरी ही बात तो कही थी–

> प्रभु ! मैं तो अकेला और असहाय हूं, इन कर्मों का पूरा व्यूह बना हुआ है। मेरी ज्ञान-सम्पदा लूटकर इन्होंने मुझे निबल और निरूपाय कर दिया है। मेरे और आपके बीच इन्हीं दुष्टों ने दुविधा बना रखी है।
>
> पैरों में पाप और पुण्य की बेड़ियां डालकर, देह के कारागार में, ये कर्म मुझे इतने दुख दे रहे हैं जिनका कोई अंत ही दिखाई नहीं देता।

मैं तो एक अनाथ, ये मिल दुष्ट घनेरे,
कियौ बहुत बेहाल, सुनियौ साहब मेरे।

ज्ञान महा-निधि लूट, रंक निबल करि डार्‌यौ,
इन ही मो-तुम मांहिं, प्रभु अंतर पार्‌यौ।

पाप-पुण्य मिल दोय, पॉयन बेड़ी डारीं,
तन कारागृह मांहिं, मोहिं दियौ दुख भारी।

प्रभु तो मेरे भीतर ही बैठे हैं। मैं ही अपने अज्ञान के कारण उससे दूर भटक रहा हूं।

धान के पौधे से बीज, और बीज से पौधा, जैसे अनादि से निकल रहा है, उसी प्रकार मेरा भी जन्म के बाद मरण और मरण के बाद जन्म का चक्र अनादि से चल रहा है।

एक बार यदि किसी प्रकार धान का छिलका निकल जाए, उसका तंदुल अनावरित हो जाए, तो उसकी उत्पत्ति और विनाश का चक्र थम जायेगा। इसी प्रकार यदि किसी तरह मेरी आत्मा और पड़ा हुआ मोह का आवरण हट जाए, अविद्या का परदा नष्ट होकर मेरे अंतर की ज्ञान-ज्योति निरावरण हो जाए तो मेरे जन्म-मरण का चक्र भी थम जाएगा।

बहुत हो गया। राग-द्वेष और मोह से प्रेरित होकर अपरिमित काल इस भव-वन में भटक लिया। अब और नहीं। अब तो अज्ञान का अंधकार छंट रहा है। मुक्ति का मार्ग सूझने लगा है। चलो ठीक है।

जब से जागे, तभी सबेरा।

10th Meditation

UNIVERSE

Vast's the magnitude of the Universe,
The Earth midway-the Heaven and Hell;
Where's the soul from tim's infinite,
Whitehered without a scientific Cell.

11. बोधि-दुर्लभ भावना

धन-कन-कंचन-राजसुख, सबहिं सुलभ करि ज्ञान,
दुर्लभ है संसार में, एक जगारथ जान।

दुर्लभ्य नित्य निगोट्से व्यवहार में है आवना,
दुर्लभ्य इस संसार में है कठिन नर तन पावना।
दुर्लभ यथारथ ज्ञान, दुर्लभ बोध निज का पावना,
अतएव आतम हित करो, भज नित्य "बारह-भावना"।

धन-सम्पत्ति और अन्य सांसारिक सुख बहुत दुर्लभ नहीं हैं। मेरी दीर्घकाल की संसार-यात्रा में मुझे वे सारे पदार्थ, अनेक बार मिले हैं।

परन्तु अपने आपको पहचानने का यथार्थ-ज्ञान मुझे एक बार भी प्राप्त नहीं हुआ। इस जगत में निज और पर की सही पहिचान सबसे दुर्लभ है।

लाखों प्रकार की क्षुद्र योनियों में मुझे बहुत समय तक जन्म-मरण करना पड़ा। उस समय मनुष्य का जन्म पाना ही दुर्लभ रहा। कवि दौलतरामजी ने ठीक ही कहा कि —पुण्य योग से यह मनुष्य जन्म मिला भी तो इस पर्याय में बाल अवस्था तो खाने-खेलने में ही चली गई। उस समय तो विशेष ज्ञानार्जन की योग्यता ही नहीं थी। युवावस्था में मेरी सारी शक्तियां सांसारिक विद्याओं के उपार्जन में लगती रहीं। उस समय धन का अर्जन और विषयों के भोग, प्रायः यही मेरे प्रमुख लक्ष्य रहे। और वृद्धावस्था तो रोगों का घर है। इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं। तब अपने को जानने का पुरुषार्थ कब होगा? कैसे होगा?—

बालपने कछु ज्ञान न लह्यौ,
तरूण समय तरूणी-रत रह्यौ।
अर्द्ध-मृतक सम वृद्धापनौ,
कैसें रूप लखै आपनौ।

—छहढाला/1-14

इसीलिये सब कुछ सुलभ रहते हुए भी मेरे लिये अपनी पहिचान दुर्लभ ही बनी रही। ऐसा यह पहली बार नहीं हुआ। बार-बार मनुष्य तन पाकर मेरे साथ ऐसा ही हुआ है।

कवि दीपचन्दजी ने कहा-मनुष्य तो क्या, देव-पद पा लेना भी सुलभ है। बार-बार मैंने पाया है। धन-धान्य की प्राप्ति भी कठिन नहीं। परन्तु सम्यग्बोधि, परमार्थ ज्ञान, जो मुक्ति का कारण है, वह बहुत दुर्लभ है—

सबहिं सुलभ या जगत में, सुर नर पद, धन-धान,
दुर्लभ सम्यग्बोधि इक, जो है शिव—सोपान।

—दीपचन्दजी/छहढाला

बुधनजी ने और भी सरल शब्दों में समझाने का प्रयास किया संसार चलाने वाली विद्याओं का ज्ञान तो मुझे अनन्त बार हुआ, परन्तु जिसमें मेरा वास्तविक कल्याण निहित है, वह आत्म-ज्ञान मुझे एक बार भी नहीं हुआ। अपना परिचय बहुत कठिन बना रहा।

सब व्यौहार क्रिया कौ ज्ञान,
भयौ अनन्ती बार प्रधान।
निपट कठिन अपनी पहिचान,
जाकों पावत होत कल्याण।

—बुधजन कृत छहढाला

यथार्थ की परिभाषा

बोधि-दुर्लभ भावना पर विचार करते समय ''यथार्थ-ज्ञान'' की दुर्लभता तो हमने समझ ली। एक बार यह भी देख लें कि इस यथार्थ-ज्ञान का स्वरूप क्या है। दुनिया में हर वस्तु का मूल्य या महत्व, उसके अभिन्न गुणों से ही मापा जाता है। दुध गाढ़ा हो और सफेद हो

यह उसका महत्त्व नहीं है। महत्व की बात यह है कि दूध में ओंटाने पर मलाई और दही बनाकर मथने पर नवनीत प्राप्त होना चाहिये। यह न मिले तो दूध की सफेदी और गाढ़ेपन का कोई अर्थ नहीं।

इसी प्रकार ज्ञान का फल है विराग। ज्ञान की सार्थकता यही है कि उसके आते ही परिग्रह का व्यामोह कम हो और कषायों के बंधन बहुत कुछ ढीले पड़ने लगें। यदि ज्ञान के साथ जीवन में ये दो उपलब्धियां नहीं आईं, इतनी पवित्रतता नहीं आई, तो वह ज्ञान यथार्थ भी नहीं है और मुक्ति के मार्ग में कार्यकारी भी नहीं है। वह केवल शाब्दिक ज्ञान है। इसके द्वारा अपने आपको, और दूसरों को धोखा दिया जा सकता है, परन्तु उपकार किसी का नहीं हो सकता। न अपना, न पराया।

कबीर ने एक जगह कहा—"यदि चित्त में काम, क्रोध, अहंकार और लालसा की वासनाएं वैसी ही पनपतीं रही तो विद्वान और मूर्ख में कोई अंतर ही नहीं है—

काम, क्रोध, मद, लोभ की, जब लग घट में खान,
कबीर मूरख पंडिता, दोनों एक समान।

तुलसीदास ने कहा—"वही ज्ञान है, वही गुणी है, उसी का ध्यान सार्थक है और उसी की साधना सफल है, जिस साधक के राग और द्वेष मंद हो गये—

सोई ज्ञानी, सोई गुनीजन, सोई साधक, सोई ध्यानि,
तुलसी जाके चित भई, राग-द्वेष की हानि।

ज्ञान के साथ जो यह "यथार्थ" की शर्त लगी है, इसे कुछ गहराई से समझना होगा। यहां यथार्थ का अर्थ मात्र "वास्तविक" ही नहीं है, उसके आगे कुछ और है। यथार्थ वह है जो परमार्थ से परिपूर्ण हो। यथार्थ वह है जो सूचनात्मक भर न हो, अनुभव-जन्य भी हो। इसका सीधा अर्थ यह है कि ऊपर के चर्म-चक्षुओं से जो दिखाई दे रहा है, आवश्यक नहीं है कि वह यथार्थ हो। यथार्थ तो हिये की आंखों से ही देखा जा सकता है। ऊपर की आंखों से दिखना उसकी अनिवार्यता नहीं।

सूरदास की तो ऊपर की दोनों आंखें छिन गई थीं। किन्तु मात्र हिये की आंखों से उन्होंने जितना देखा, उतना बड़े-बड़े आंखों वाले भी कहां देख पाते हैं। इसीलिये कबीर ने कहा—उसका अंधापन लाइलाज

है जिसकी हिये की आंखें खुल नहीं रही हैं और ऊपर की आंखें लक्ष्य को देख नहीं पा रहीं। फिर भले ही वे आंखें दुनिया की राग-द्वेष में फंसाने वाली रंगीनियों को, कितनी ही बारीकी से क्यों न देख रही हों। आत्म-कल्याण के मार्ग में उसे देखने का कोई अर्थ नहीं है।—

ऊपर की दोऊ गई, हिय की गई हिराय,
कह कबीर चारों गई, तासों कहा बसाय।

जब कबीर ने किसी अंहकारी पंडित को यह कहकर ललकारा होगा कि—"तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आंखन की देखी" तब भी उनका अभिप्राय हिये की आंखों से, या अपने अनुभव से ही रहा होगा। बनारसीदासजी के एक पद में ऊपर और भीतर की आंखों का अंतर विस्तार से कहा गया है—

भोंदू भाई! समुझ सबद यह मेरा।
जो तू देखै इन आंखिन सों, ता में कछू न तेरा।

—ओ भोले भाई! मेरी बात समझने का प्रयत्न कर। संसार में जो कुछ भी तू इन चर्म-चक्षुओं से देख रहा है, उसमें कुछ भी तो ऐसा नहीं है जो तेरा अपना हो।

ये आंखें भ्रम ही सों उपजीं, भ्रम ही के रस पागीं,
जहं-जहं भ्रम, तहं-तहं इनकौ श्रम, तू इनही कौ रागी।

—जड़ और चेतन के संयोग के भ्रम से ही इनकी उत्पत्ति हुई है। संसार में जहां तक इन आंखों की दृष्टि पहुंचती है, उन सब पदार्थों को ये अवास्तविक, या भ्रम रूप ही देखती हैं। जैसे का तैसा देखना इनकी आदत ही नहीं है। चन्द्रमा इन्हें थाली के बराबर दिखाई देता है, जबकि वह पृथ्वी से भी बड़ा है। आकाश को ये नीला देखती हैं, जब कि वह ऐसा नहीं है। सूर्य का प्रकाश इन्हें श्वेत दिखाई देता है, जबकि इसमें सातों रंगों का अस्तित्व है। कहां तक गिनाया जाये, संसार में जहां-जहां कोई भ्रम है, किसी प्रकार का छलावा है, वहीं-वहीं इन आंखों की टकटकी लगी रहती है। उस पर सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि तू इनके ही राग में फंसा हुआ है। इनके निर्णय को ही प्रामाणिक मान रहा है।

ये आंखें दोउ रचीं चाम की, चामहि चाम बिलोकैं,
ताकी ओट मोह-निद्रा-जुत, सुपन रूप तू जौवे।

—ये दोनों आंखें चर्म की ही बनी हैं न, इसलिये चर्म को ही देखती हैं। उसी के आधार पर प्राणी की परख करती हैं। इसलिये इन्हें हर कोई गोरा या काला, ऊंचा या ठिगना, सुन्दर या असुन्दर भर दिखाई देता है। हाड़मांस के शरीर की ओट में जो एक चैतन्य-पुंज तू अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ बैठा हुआ है, उसे ये देख ही नहीं पातीं। तू भी मोह-निद्रा के वशीभूत अचेत हुआ, देह और देही को अलग-अलग कहां देख पा रहा है। तू भी तो एक स्वप्न की तरह, जैसा ये दिखाती हैं, वैसा ही ज्ञान और मान रहा है।

इन आंखिन कौ कौन भरोसौ, ये बिनसैं छिन माहीं,
इनकौ है पुद्गल सो परिचय, तू तौ पुदगल नाहीं।

—भाई, इन चर्म-चक्षुओं का कोई भरोसा नहीं है। ये तो किसी भी क्षण मुंद जायेंगी। चेतन तत्व से इनका कोई परिचय नहीं है। ये तो सिर्फ पुद्गल तत्व को, स्थूल शरीर आदि को ही जानती हैं। तू पुद्गल तो नहीं है। तू तो पुद्गल से एकदम भिन्न, चेतन-स्वरूप आत्म-तत्व है। फिर इन आंखों से तू अपने आपको ज्ञान पायेगा ऐसी कल्पना ही व्यर्थ है।

तेरे दृग मुद्रित घट-अंतर, अंध रूप तू डोले,
कै तो सहज खुलैं वे आंखें, कै गुरू संगति खोलै।

—बनारसीदास/अध्यात्म पदावली

—तेरी वास्तविक आंखें तो तेरी ज्ञान-दृष्टि है, जो तेरे भीतर सोई पड़ी है। उस अपनी ज्ञान-ज्योति से बेखर तू अंधे के समान संसार के दुख उठाता भटक रहा है। कभी ऐसे अनुकूल पुण्य-संयोग मिल गये तो वे हिये की आंखें, सहज ही खुल जायेंगी। या फिर सदगुरू की संगति से तुझे दृष्टि प्राप्त होगी। जैसे भी खुलें, परन्तु यह तुझे समझ लेना चाहिये कि वह दृष्टि कहीं से लाना नहीं है। दृष्टि-सामर्थ्य तो तेरी अपनी सम्पदा है। केवल मोह और राग-द्वेष के अंधकार के बीच से उसे जाग्रत करना है। प्रयत्न करेगा तो एक दिन वह ज्ञान-ज्योति तेरे भीतर अवश्य प्रज्वलित होगी। तेरी भयानक भव-निशा का वही मंगल-प्रभात होगा।

इससे विलग कवि ने हिये की आंखों को लेकर एक अन्य पद में

लिखा—''भाई! हिये की आंखें वे हैं जो अपनी शास्वत सुख-सम्पदा को निहारती हैं और भ्रम उपजाने वाली ऊपरी चमक-दमक को नकारती हैं। वे आंखें केवल ज्ञानी परमात्मा द्वारा प्रसारित वाणी का स्पर्श करके, समता के अमृत-रस की वर्षा करती हैं। यही वे नेत्र हैं जिनके द्वारा परमार्थ का दर्शन करके जीव अपना जीवन सार्थक कर लेता है।—

भोंदू भाई, ते हिरदे की आंखें।
जे करषें अपनी सुख सम्पत्ति, भ्रम की सम्पत्ति नाखें।

जे आंखें अमरत-रस बरसें, परसें केवलि वानी,
जिन्ह आंखिन बिलोकि परमारथ, होंहिं कृतारथ प्रानी।

जिन आंखों से आत्मा और अनात्मा का भेद पाकर, तथा अपने शास्वत गुणों को निरख कर, ज्ञानी जन आत्मज्ञान का चिन्तवन करते हैं, जिन आंखों से अपने चिदानन्द चैतन्य का स्वरूप देखकर मुनिजन ध्यान और धारणा प्राप्त करते हैं, और जिन आंखों का विमल प्रकाश इन चर्म-चंक्षुओं की विषमता समाप्त करके इनमें भी समता की ज्योति जला देता है, ये वही हृदय की आंखें हैं।—

जिन आंखिन सौं निरखि भेद-गुन, ज्ञानी ज्ञान विचारैं,
जिन आंखिन सौं लखि स्वरूप, मुनि ध्यान धारणा धारैं।

जिन आंखिन की ज्योति प्रगट कैं, इन आंखिन में भासै,
तब इनहूं की मिटै विषमता, समता रस परगासै।

भोंदू भाई, ते हिरदे की आंखे।

वास्तव में राग-द्वेष-मोह का आवरण, या अविद्या का परदा, संसार पर नहीं पड़ा है। परदा तो अपनी दृष्टि पर पड़ा है। उसे ही हटाना है। अज्ञान के अंधकार में आंखें तो अपनी ही बंद हैं। सद्गुरू की कृपा से जब कभी ज्ञान की अंजन शलाका का स्पर्श हो जाये, तभी वह नेत्रोन्मीलन सहज-सम्भव हो मकता है। इसीलिये गुरू की स्तुति में हम पढ़ते हैं—

अज्ञान तिमिरान्धानां, ज्ञानांजन शलाकया,
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरुवे नमः।

एक शायर ने बड़ी खूबी के साथ कहा—''मनुष्य को अपनी दृष्टि पर पड़ा हुआ परदा उठाना चाहिये। फिर उसके लिये संसार में कुछ भी

रहस्यमय नहीं रह जायेगा। सारे रहस्यों पर से परदा उठ जायेगा। सब कुछ अपने वास्तविक रूप में उसके सामने होगा। –

उठा सके आदमी तो पहले, नज़र से अपनी, नक़ाब उठाये,
जमाने भर की तज़ल्लियों से, नकाब उलटी हुई मिलेगी।

एक और मित्र ने कहा–भ्रम का अस्तित्व है कहां? जब वास्तविकता को हम दृष्टि से ओझल कर देते हैं, तभी बहुत से भ्रम पैदा हो जाते हैं। पुष्प से दृष्टि हटने पर ही कण्टकों का अस्तित्व भासित होता है – दृष्टि यदि फूल पर एकाग्र हो तो – कोयल को कण्टकों का भय होना ही नहीं चाहिए।

वजूदे-ख़ार क्या है, गुल का नज़रों से फिसल जाना,
वगरना आंख में बुलबुल की ये कांटा निहां क्यों हो।

चतुर्गति के परिभ्रमण में तरह-तरह के दुख उठाते हुए इस बार मुझे उत्तम मनुष्य भव मिला है। मेरा शरीर भी बहुतेरे लोगों की अपेक्षा स्वस्थ्य और सबल है। मेरी इन्द्रियां और मन-मष्तिष्क भी काम कर रहे हैं। सौभाग्य से आत्मा और परमात्मा के बारे में सोचने की रुचि भी मेरे भीतर जागी है। ये सारे संयोग एक साथ मिलना बहुत कठिन हैं। थोड़े ही समय में ये सभी संयोग स्वयं बिखर जाने वाले हैं। संसार का यही नियम है।

ऐसा दुर्लभ अवसर पाकर इसे व्यर्थ नहीं खोना है। राग-द्वेष के संस्कारों को दबाकर मुझे अपने भीतर यथार्थ-ज्ञान की प्यास जगाना चाहिये बार-बार उनका ही चिन्तवन करना चाहिये ताकि सिर्फ इस भव में नहीं, अगले जन्मों में भी वहीं संस्कार मेरे साथ रहें। यही बोधि-दुर्लभ भावना का अभिप्राय है।

11th Meditation

THE RARITY OF ACQUIRING ENLIGHTENMENT

Wealth, gold and the rule,
All are easy to gain,
Hard it's to get in the World.
A Scientific mind with a Scientific reign.

12. धर्म भावना

जांचे सुरतरु देय सुख, चिन्तत चिन्ता रैन,
बिन जांचैं, बिन चिन्तयें, धर्म सकल सुख दैन।

स्व-स्वभाव ही तो आत्मा का, श्रेष्ठ सुन्दर धर्म है,
औपाधि-भाव कराता, आत्मा से कर्म है।
तज कर्म-कारण, जीव स्व-स्वभाव में ही लीन हो,
तज कर समस्त विभाव, निज सुख में सदा लवलीन हो।

संसार में धर्म ही सुख-प्राप्ति का उपाय है। धर्म मेरा अपना स्वभाव है, इसलिये वह मेरे भीतर है। उसे मेरे ही कुसंस्कारों, ने, और वासनाओं ने, वर्तमान में विकारी कर रखा है। इन विकारों के विलीन होते ही वह स्वतः प्रगट होगा। वह सहज-स्वभाव, या सहज-धर्म, मुझे सुख देने वाला है, सुख का भण्डार है और सुख रूप ही है।

वैसे तो जीवों की मनोकामना पूरी करने वाले बहुतेरे पंदार्थ जगत में हैं, परन्तु उनसे याचना करने पर ही कुछ मिलता है। मैने सुना है कि पहले कल्प-वृक्ष हुआ करते थे। मन में कल्पना करते ही उनसे मनचाहे पदार्थ मिल जाते थे। किसी-किसी के पास चिन्तामणि रत्न हुआ करता था, जिसके सामने चिन्तन करने से अभीष्ट पदार्थ प्राप्त हो जाता था। हो सकता है कि ऐसा होता रहा हो, परन्तु मनुष्य को अपनी आकांक्षा की पूर्ति के लिये इनके सामने याचक तो बनना ही पड़ता था। मांगे बिना संसार में कभी किसी को, किसी से, कुछ नहीं मिलता। लोक में प्रसिद्ध है कि मां अपने शिशु को भी जब तक वह रोकर अपनी याचना व्यक्त न करे, दूध नहीं पिलाती।

मैं भी अनादिकाल से अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये, न जाने कहां-कहां, हाथ फैलाता रहा। किस-किस से याचना करता रहा। परन्तु मुझे तृप्ति तो कहीं नहीं मिली। मेरी एक पीड़ा और रही। याचना करने पर जब, जो भी प्राप्त हुआ, वह क्षणिक ही रहा। उन पदार्थों के सम्पर्क से मेरी प्यास क्षण भर को घटी अवश्य, पर कभी समाप्त नहीं हुई। दूसरे ही क्षण वही अतृप्ति, उसी पदार्थ की आकांक्षा, दूने-चौगुने वेग के साथ मुझे पुनः पुनः संतप्त करती रही। इस अमिट पिपासा के कारण मैं हर जन्म में प्यासा ही बना रहा।

आज संसार के यथार्थ स्वरूप की अवधारणा होने पर मुझे यह निश्चय हुआ कि जगत में जीवों को तृप्ति कहीं नहीं है। तृप्ति, संतोष और सुख यदि किसी को मिल सकता है तो वह धर्म की शरण में ही सम्भव है। धर्म ही एक ऐसा तत्व है जो संसार के प्रत्येक प्राणी को शास्वत सुख प्रदान करता है। धर्म आत्मा का अपना स्वभाव है। वह तो आनन्दमय ही है। धर्म के साथ जीवन में सुख और संतोष की उपलब्धि, आनन्द का आगमन, वैसा ही निश्चित है जैसा सूर्य के साथ प्रकाश का। उसके लिये कोई याचना नहीं करनी पड़ती। वह तो याचना और चिन्ता के अभाव में ही प्रगट होता है।

धर्म भावना पर विचार करते समय, आइये एक बार यह विचार करें कि हमारे जीवन में धर्म की आवश्यकता क्या है?

हम जीवन में जो भी कुछ करते हैं, वह तीन शक्तियों के माध्यम से ही करते हैं, मन, वाणी, और शरीर। चाहे हम शुभ कार्य करें या अशुभ, चाहे पुण्य करें या पाप, उन्हें करने के साधन ये तीन ही हैं। पाप के कार्यों से हमारा अपना अहित तो होता ही है, दूसरों का भी अनिष्ट होता है।

हमारी करनी का प्रतिफल हमारे परिवार को, हमारी समाज को और हमारे राष्ट्र को भी प्रभावित करता है। सूक्ष्मता से विचार करें तो हम पायेंगे कि एक व्यक्ति की करनी से, कुछ सीमा तक, पूरी मानवता प्रभावित होती है। यह प्रतिक्रिया अस्वाभाविक नहीं है, क्योंकि व्यक्तियों के समूह से ही समाज और राष्ट्र बने हैं। इस दृष्टि से हमारे अपने कल्याण के लिये, तथा समाज, राष्ट्र और पूरी मानवता के हित के लिये, यह आवश्यक है कि हमारे मन-वचन-काय की प्रवृत्तियां निर्दोष हों। वे किसी के लिये भी घातक न हों।

सभ्यता ने हमें इस दिशा में कुछ पाठ पढ़ाये हैं। यदि हम वाणी के माध्यम से कोई अवांछित कार्य करते हैं तो हमारी सभ्यता या हमारा समाज हमें रोक लेता है। शरीर द्वारा कोई समाज-विरोधी, या अनैतिक आचरण हम करते हैं तो राष्ट्र के नियम-कानून हमें रोक देते हैं। परन्तु हमारा मन जो निरन्तर अनगिनते अपराध करता रहता है, उसे रोकने वाला कोई नहीं है। मानव-मन की सारी दुष्प्रवृत्तियां वर्तमान सभ्यता के अनुशासन से सर्वथा अछूती रह जाती हैं। सोसाइटी और समाज, पुलिस और कानून, किसी में भी ऐसी सामर्थ्य नहीं है जो

हमारे मन पर नियंत्रण रख सकें। धर्म में वह सामर्थ्य है। मन पर लगाम लगाना, उसे संयत करके अनुशासन में लाना, धर्म का ही काम है। बस, यहीं से हमारे जीवन में धर्म की उपयोगिता प्रारम्भ हो जाती है।

कच्चे घर के आंगन में उगे हुए अंकुर को बहुत आसानी से उखाड़कर नष्ट किया जा सकता है। परन्तु कालान्तर में वही अंकुर जब गहरी जड़ों और मजबूत तने वाला वृक्ष बन जाता है तब शक्ति लगाकर भी उसे निर्मूल करना आसान नहीं होता। कई बार तो फिर वह वृक्ष घर की दीवार को ही ले बैठता है। मन के विकार भी ऐसे ही हैं। वे अंकुर की तरह छोटे रूप में पैदा होते हैं। यदि उसी समय उन्हें उखाड़ फेंकने का उपाय नहीं किया गया तो वे बढ़ते जाते हैं। समय पाकर वही विकार जब वाणी और शरीर के स्तर पर प्रगट होते हैं, तब तक बहुत विलम्ब हो चुका होता है। फिर उन्हीं मानसिक दुष्प्रवृत्तियों से समाज और राष्ट्र का ऐसा अहित होता है जिसके कारण पूरी मानवता संकट में पड़ जाती है। आज हमारे आस-पास, चारों ओर दिखाई देने वाली हिंसा, अराजकता, आतंकवाद और आत्मघात, सब उन्हीं मानसिक विसंगतियों के दुष्परिणाम हैं। अश्रुगैसों, लाठियों और गोलियों से उन दुष्प्रवृत्तियों का शमन करने की बात उतनी ही निरर्थक है जितनी ऊपर से मरहम लगाकर देह के भीतर पनप रहे कैन्सर को दूर करने की आशा करना।

धर्म के प्रकाश में, स्थिर-चित्त होकर, प्रतिदिन अपने आपको भीतर से देखने-सम्हालने की बुद्धि जिन्हें मिली है, प्रतिदिन आत्मावकोलन की कला जिनके पास है, उनके मन में विकारों के अंकुर प्रायः पनपने के पहले ही निर्मूल हो जाते हैं। यही तो रहस्य है कि धर्म से जिसका परिचय हो गया, उसके जीवन में पवित्रता आ जाती है।

इसके विपरीत, धर्म की किरणों से जिसका अंतर प्रकाशित नहीं है, उसके भीतर, मोह के अंधकार में, कषायों और वासनाओं की जड़ें गहरी पैठती जाती हैं। उनकी शक्ति बढ़ती जाती है। फिर धीरे-धीरे वे कच्चे घर की दीवार की तरह, पूरे व्यक्तित्व को आत्मसात् करके विषहरा बना देती हैं। तब अपनी चेतना को, और विकारों को, अलग-अलग पहचानना भी कठिन हो जाता है। दोनों की सत्ता बिलकुल एकमेक दिखाई देने लगती है। यह सब एक दिन में, या एक

जन्म में नहीं होता। जन्म-जन्म की वासनाएं इस विष-वृक्ष का पोषण करती हैं। राग-द्वेष की अविच्छिन्न धारा इसे सींचती है, और अविद्या के हठाग्रही संस्कार इसका संरक्षण करते रहते हैं।

अपनी इस विकार अवस्था का विश्लेषण करके, उसमें भी अपनी सहज चेतना को प्रथक अनुभव करना बड़े कौशल का काम है। उसके बाद विकारों को निर्मूल करते हुए, अपने अंतर की विशुद्धि को बढ़ाना सच्ची साधना है। धर्म का सहारा लिये बिना यह कभी सम्भव ही नहीं है, क्योंकि आत्म-संयम, या आत्म अनुशासन धर्म की ही विशेषता है। धर्म के बिना किसी प्रकार भी अभ्यंतर का शुद्धीकरण प्रारम्भ नहीं होता। इसीलिये इस अंतिम भावना में कहा गया कि जो अविनाशी सुख इस जगत में किसी को, कभी, कहीं प्राप्त नहीं हुआ, वह धर्म के द्वारा संसार के हर प्राणी को, सहज ही उपलब्ध हो सकता है।

वास्तविकता तो यह है कि इन्द्रियों को लुभाने वाले जिन पदार्थों में, या जिन क्रियाओं में हमने सुख मान रखा है, उनमें सुख है नहीं। वह तो अल्पकाल के लिये हमें भरमाने वाला "सुखाभास" है। विषय-वासनाओं से मिलने वाले सुख अंत में दुख-स्वरूप हैं और आगामी काल के लिये दुख की ही जड़ हैं। एक कवि ने ठीक ही कहा—"जिस सुख को तू सुख मान रहा है, वह सुख नहीं है। वह तो विनाशवान होने से दुख रूप और दुख मूल ही है। जो विनश्वर हो वह सुख कैसे हो सकता है?

जा सुख कों तू सुख कहै, सो सुख तो सुख नाहिं,
ये सब सुख-दुख-मूल हैं, सुख अविनासी आहि।

—भैया भगवतीदास

धर्म की तो परिभाषा ही इतनी ही है कि वह सबको, सदा के लिये, सुखी करने की सामर्थ्य रखता हो। कुछ जीवों को, कुछ समय के लिये, सुख का आभास दिलाने वाला साधन चाहे जो भी हो, वह धर्म कदापि नहीं हो सकता। लगभग दो हजार वर्ष पूर्व यह परिभाषा इन शब्दों में बांधी गई—"मैं तुम्हें धर्म की प्राप्ति का उपाय कहूंगा। वह धर्म जो समस्त कर्मों का निवारण करके, जीवों को उत्तम-स्थायी सुखों तक पहुंचाने की सामर्थ्य रखता है"—

देशयामि समीचीनं धर्म कर्म निवर्हणम्,
संसार दुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।

—आचार्य समंतभद्र/रत्नकरण्ड श्रावकाचार/2

निष्कलंक श्रद्धा, निर्दोष ज्ञान और निष्पाप आचरण को धर्म कहा गया है। दूसरे शब्दों में विकारों से पृथक मेरा स्वाभाविक अस्तित्व ही धर्म है। दौलतरामजी ने कहा—''मानसिक विकारों से रहित जो श्रद्धा-ज्ञान और आचरण हैं, वही धर्म है। उसे प्राप्त करने पर ही जीव को अविनाशी सुख की प्राप्ति हो सकती है—

जे भाव-मोह तैं न्यारे, दृग-ज्ञान व्रतादिक सारे,
सो धर्म जबै जिय धारै, तब ही सुख अचल निहारै।

—छहढाला/5-14

यदि धर्म मेरा स्वभाव है तो वह मेरे भीतर ही प्राप्त होना चाहिए। बाहर उसकी तलाश कैसे सार्थक हो सकेगी। तभी तो बुधनजी ने कहा—''अपनी आस्था, अपना स्वभाव ही धर्म है। दुनिया से सौजन्यपूर्ण व्यवहार, घाट-घाट का स्नान, दान-दक्षिणा, ये सब किसी शरीर-शुद्धि के कार्य हो सकते हैं, पर धर्म इनसे अलग कुछ और ही तत्व है। भाई, गुरू की शिक्षा पर ध्यान दे, और अपनी आत्मा में, आत्मा का हित करने वाले धर्म की तलाश कर—''

धरम स्वभाव आप सरधान,
धरम न शील, न न्हवन, न दान।
बुधजन गुरू की सीख विचार,
गहौ धरम आतम हितकार।

—छहढाला

भूधरदासजी ने कहा—''दस लक्षणों से निरुपित किया जाने वाला धर्म परम पवित्र है, सुख को देने वाला है, जन्मान्तरों तक साथ जाने वाला है और अमिट, अविनश्वर है। दुर्गति में पड़े जीव को हाथ पकड़ कर ऊपर निकालने वाला, स्वर्ग और मोक्ष दिलाने वाला यह धर्म ही है।—

दुर्लभ धर्म दसांग पवित्त, सुख-दायक, सहगामी, नित्त,
दुर्गति परत यही कर गहै, देय सुरग, सिव-थानक लहै।

—पार्श्व-पुराण/7-104

धर्म के वे दस लक्षण कौन से हैं? मेरे जीवन में किन उपायों से उनकी अवतारणा हो सकती है? वह धर्म कब्र मेरे जीवन को पवित्र करेगा? आइये इन प्रश्नों पर विचार करें।

धर्म के दस लक्षण

"वत्थु सहावो धम्मो"—वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है। इस परिभाषा के अनुसार मेरा अपना स्वभाव ही मेरा धर्म है। क्षमा, मृदुता, सरलता, पवित्रता, स्वाधीनता और शान्ति, ये सब मेरे स्वभाव हैं, अतः इन सबको धर्म कहा जा सकता है।

गीता में धर्मी पुरुष के लक्षण इस प्रकार कहे गए हैं—

भय, क्रोध, अभिमान, बैरभाव और मद के अभाव में, अंतरंग की पवित्रता के साथ, बाह्य और अंतरंग शुद्धिपूर्वक, इन्द्रिय-दमन, ज्ञान-ध्यान-दान-तप और स्वाध्याय से उपार्जित-क्षमा, मार्दव, आर्जव और सत्य, तथा—
जीव-दया, अहिंसा, अनासक्ति, धैर्य और शान्ति,
ये सब दैवी-सम्पदा से सम्पन्न पुरुष के लक्षण हैं।—

अभयं सत्वसंशुद्धिः ज्ञानयोगवयवस्थितिः
दानं दमश्च, यज्ञस्च, स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिपैशुनम्
दया भूतेष्वलोप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता
भवन्ति संपदं दैत्रीमभिजातस्य भारत।

—भगवद् गीता/16/1-3

जैन संतों ने दस लक्षणों के माध्यम से धर्म को परिभाषित किया है। क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच, सत्य, संयम, तप और त्याग, तथा आकिंचन्य और ब्रम्हचर्य। इन्हें हम अपनी आत्मा की निधियां भी कह

सकते हैं। ये विभाव से स्वभाव की ओर हमारी यात्रा के पड़ाव हैं।

1. क्षमा : क्रोध मेरी चेतना में पित्त के समान अंतर्दाह देने वाला विकार है। यह मेरी आत्मा में ऐसा क्षोभ पैदा करता है जिससे बाहर-भीतर सब कुछ प्रदूषित हो जाता है।

क्रोध के अभाव में प्रगट होने वाला मेरा अपना सहज-स्वभाव ही क्षमा है। भीतर और बाहर जब कोई शत्रु दिखाई न दे, तब क्षमा की अनुभूति होती है। पर में भूल देखने पर क्रोध की उत्पत्ति होती है। जब स्वयं की भूल समझ में आने लगती है तब क्षमा का उदय होता है।

2. मार्दव : मान मेरी चेतना में धनुर्वात-टिटनस की तरह अकड़न पैदा करने वाला विकार है। इसके प्रकोप से मेरी भाव-भूमि तो कठोर होती ही है, मेरे सिर, गर्दन वगैरह अंग भी अकड़ जाते हैं। मेरा विवेक तिरोहित हो जाता है।

मान के अभाव में प्रगट होने वाला मेरा अपना सहज-स्वभाव ही मार्दव है। अहंकार अविद्या का पोषक है, मार्दव विनय का भण्डार है। विनय से ही स्व-पर का विवेक उदित होता है और आत्मकल्याण का मार्ग प्रकाशित होता है। मान से विरक्ति ही मार्दव है।

3. आर्जव : माया मेरी चेतना को गठिया वात की तरह पंगु कर देने वाला विकार है। इसके रहते पवित्रता की दिशा में मेरा पग उठता ही नहीं। जिस प्रकार वात की छाया में चौरासी प्रकार के रोग पनपते हैं, उसी प्रकार माया के संरक्षण में चौरासी लाख योनियों में भटकाने वाले पाप पनपते रहते हैं।

माया के अभाव में प्रगट होने वाला मेरा अपना सहज-स्वभाव ही आर्जव है। माया अविद्या

की जन्म-भूमि, अपयश का घर, और पाप-पंक की खाई है। छल-कपट इसी के बेटे हैं जो मुझे सदा दुर्गति की ओर खींचते रहे हैं। इस दुर्जन-परिवार को अंतर से बिदा कर देना ही आर्जव है।

4. शौच : लोभ या लालच मेरी चेतना में कफ की तरह जकड़न पैदा करने वाला विकार है। जैसे कफ मनुष्य को अंतिम सांस तक कष्ट देता है, उसी प्रकार लोभ भी मुक्ति-यात्रा में बहुत दूर तक जीव को त्रस्त करता है। इसकी जकड़न से निकल पाना सबसे कठिन है।

लोभ के अभाव में प्रगट होने वाला मेरा अपना स्वभाव ही शौच है। लोभ के रहते संतोष का उदय नहीं हो सकता। संतोष के बिना, जब तक पर की लालसा दूर न हो तब तक, मेरे अपने गुणों की सम्पदा का मुझे भान भी नहीं होने पाता। शौच प्राप्त होते ही आत्मा में अनेक गुण स्वतः प्रगट हो जाते हैं।

5. सत्य : शरीरादि से प्रथक, तथा राग-द्वेष आदि मानसिक विकारों से भी प्रथक, आत्मा का साक्षात्कार करना सबसे बड़ा सत्य है। हित, मित और प्रिय वाणी का प्रयोग सत्य-वचन है। अहितकर, अमित और अप्रिय वचन-प्रयोग से बचना भी सत्य की उपासना है।

6. संयम : जीव-हिंसा स रहित तन की प्रवृत्ति, और क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों से रहित मन की प्रवृत्ति ही संयम है। संयम के कूल-किनारों में बंधकर प्रवाहित होने पर ही, मेरी शक्तियां, अपने लिये स्वाधीनता और लोक के लिये कल्याण का स्रजन कर सकती हैं।

7. तप : इच्छाओं को सीमित करना, उन पर अंकुश लगाकर उन्हें शुभ की ओर प्रवर्तित करना तप है। मन-वाणी और शरीर को एकाग्र करके आत्म-चिन्तन करना तप है। विषय-लोलुपता त्यागकर ज्ञान और ध्यान की अराधना तप है। विनय, सेवा स्वाध्याय, और उपवास तप है।

जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधन को जलाती है, उसी प्रकार तप की अग्नि कर्म के ईंधन को जला देती है।

8. त्याग : पर को पर जानकर उससे ममत्व भाव तोड़ना ही त्याग है। मिथ्या-श्रद्वान, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हर्ष-विषाद, ये सब चेतना को प्रदूषित करने वाले अंतरंग परिग्रह हैं। बाहर से बांधने वाला चेतन और अचेतन परिग्रह अनेक प्रकार का है। जब तक आत्मा की चर्चा अच्छी नहीं लगेगी। जब तक मैं परिग्रह की सेवा-सम्हाल में लगा रहूंगा तब तक अपनी सेवा-सम्हाल का कोई अवसर ही नहीं है। बाहरी और भीतरी दोनों प्रकार के परिग्रह से मूर्च्छा तोड़ना त्याग है।

9. आकिंचन्य : समस्त बाहय-अभ्यंतर परिग्रहों से रहित और क्षमा-मार्दव-आर्जव-शौच-सत्य आदि निज गुणों से सहित, अपनी परिपूर्णता का गौर आकिंचन्य है। पर में एकत्व की तल्लीनता को त्याग कर अपने आप में लीन हो जाना आकिंचन्य है।

10. ब्रम्हचर्य : पर की आसक्ति के अभाव में प्रगट होने वाला "शील" मेरा अपना स्वभाव है। उसकी अराधना करते हुए अपने शुद्ध-बुद्ध ब्रम्ह में रम जाना ही ब्रम्हचर्य है।

इस प्रकार धर्म के ये लक्षण कोई बाहरी तत्व नहीं हैं। विकारों के अभाव में स्वतः प्रगट होने वाली आत्म-शक्तियां ही धर्म कही गई हैं।

कवि धानतरायजी ने दस धर्मों का अच्छा वर्गीकरण किया। उन्होंने कहा—''क्षमा-मार्दव और आर्जव तो मेरे निज के भाव हैं। सत्य-शौच-संयम-तप और त्याग, ये सब धर्म की प्राप्ति के उपाय हैं, और आकिंचन्य तथा ब्रम्हचर्य दस धर्मो का सार है। अपने घर आस्था, अपने अविनश्वर वैभव का ज्ञान और अपने ब्रम्ह में रमण, धर्म का सार तो इतना ही है। चारों गतियों के दु:खों से उबार कर मुक्ति का अनन्त सुख दिलाने की सामर्थ्य इस धर्म में ही है—

उत्तम छिमा, मारदव, आरजव भाव हैं,
सत्य शौच, संयम, तप-त्याग उपाव हैं।

आकिंचन-ब्रम्हचर्य धरम दस सार हैं,
चहुंगति दुख तैं काढ़ि मुकति करतार हैं।

—दसलक्षण धर्म पूजा.

इस प्रकार बारह भावनाओं के चिन्तन से यह तथ्य उजागर होता है कि—

क्षण-भंगुरता संसार का स्वभाव है।

जीव को मरण के भय से शरण देने वाला यहां कोई नहीं है।

सब ओर से सुखी कोई नहीं है। कुछ न कुछ दुख सबके साथ लगा है।

जन्म के पूर्व, मरण के उपरान्त और दुख भोगते समय, मैं अकेला ही हूं।

यह देह भी जब मेरी नहीं है तब अन्य परिग्रह मेरा कैसे हो सकता है।

शरीर व्याधियों का घर है। इसे साधना में लगाना ही बुद्धिमानी है।

मोह-निद्रा में सुध-बुध खोकर मैं कर्मों के द्वारा ठगा जा रहा हूं। सद्गुरू की कृपा से यह बरबादी रुक सकती है। मेरी चेतना जाग्रत हो सकती है।

तब पुरुषार्थ के द्वारा मैं अपने संचित कर्मो का भी नाश कर सकता हूं।

लोक में अज्ञान का मैं अनादिकाल से जन्म-मरण के दुख भोग रहा हूं।

संसार में भले ही सब कुछ सुलभ हो जावे, पर यथार्थ ज्ञान बहुत दुर्लभ है।
धर्म ही जीव को दु:खों से छुड़ाकर सुख की ओर ले जा सकता है।

मैं स्वयं अनुभव करता हूं कि संसार की यही वास्तविकताएं हैं। मैं सुखी तो नहीं हूं। बार-बार दुखों की पीड़ा तो मुझे झेलनी ही पड़ती है। किसी प्रकार दुख उपजाने वाले कारणों का यदि अभाव हो सके तो मेरे दुखों का निवारण हो सकता है। मैं स्वभाव से तो आनन्द-धाम, अविनाशी और अजर-अमर आत्मा हूं। यदि मेरा संकल्प दृढ़ रहे तो, अपने कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए भी, मैं आनन्द-प्राप्ति की दिशा में अपनी यात्रा प्रारम्भ कर सकता हूं।

मुझे वह करना ही है।
मैं अवश्य करूंगा।

12th Meditation

DHARMA (LAW)

Delight in the result when pray thou master,
And dejection is the fruit when anxiety thy fate,
Whence no ye beg, nor in an anxious mood.
'FREEDOM' is sure through the Scientific gate'.

एक ही उपाय : अंतिम और अचूक

अपने निजी कुरुक्षेत्र को सुलगने से बचाने का एक ही उपाय है। जन्म-जन्मान्तर में इस महाज्वाला से बचने के लिये मैंने बहुतेरे उपाय करके देख लिये परन्तु यह उपाय मुझसे नहीं बन सका, इसलिये मैं सुखी नहीं हो सका। मुझे वास्तविक और अविनाशी सुख-शान्ति की उपलब्धि नहीं हो सकी। अब सृष्टि का सर्वोच्च पद, यह मनुष्य जन्म मुझे मिला है। अँजुरी के पानी की तरह वह एक-एक सांस करके खिरता जा रहा है। प्रति-क्षण मेरा "नित्य-मरण" हो रहा है। वह दिन, या वह क्षण धीरे-धीरे पास सरकता आ रहा है जब मेरी इस यात्रा

का विराम-स्थल सामने आ जायेगा। फिर भी मुझे यह रहस्य क्यों समझ में नहीं आ रहा कि—

धारण कर लूं जितना, उतना भर अपना है,
जोड़कर धरा है जो, वह सब तो सपना है ।

मन के महासमर को रोकने का यह अंतिम अवसर है : आकांक्षाओं, लिप्साओं और बैर-विरोध की टकराहट से अपने आपको बचाने का धर्म ही अंतिम उपाय है। वही इस भव-रोग का अचूक इलाज है। अपने आपको जानकर, संसार की वास्तविकताओं से परिचित होकर, स्वयं को उससे पृथक अनुभव करना, अपने आपको उपलब्ध हो जाना ही मेरा वास्तविक गंतव्य है।

संसार के जाल से डरने का कोई कारण नहीं है। जन्म-जन्म में कमाये हुए अपने संचित कर्मों के भार से घबराने की आवश्यकता नहीं है। वे सब तो अपने मानसिक विकारों के माध्यम से मैंने ही बांधे थे। अपने अंतस् को पवित्र करके मैं उन सारे कर्मों को, सारी वासनाओं को, इसी जन्म में दग्ध भी तो कर सकता हूं। मुझे पेरने वाली माया मेरे ही मन से तो उपजी है। अपना यह सुखद संसार मैंने स्वयं ही तो सिरसा है। ज्ञान के भेदक प्रकाश से मैं उस मन की माया का तिमिर चीर सकता हूं। साधना की अग्नि से मैं स्वयं अपने रचे हुए उस संसार को भस्म कर सकता हूं। इस उत्क्रान्ति के लिये सारे साधन मुझे इस जन्म में प्राप्त हुए हैं। केवल संकल्प की कमी है।

वासुदेव की वह वात्सल्य भरी टेर, जो मेरी हताशा को तत्काल दूर कर सकती है, मेरे कानों में गूज रही है। संतों की वाणी पग-पग पर मुझे सावधान कर रही है। मेरा अपना अनुभव मेरा मार्गदर्शन कर रहा है। "विजय अभियान का यह अंतिम अवसर है, इसे चूकना नहीं है।"

* * *

नीरज जैन

जन्म : 31 अक्टूबर 1926, रीठी (जबलपुर, म.प्र.)

शिक्षा : एम.ए. (पुरातत्व-कला), अदीब काभिल।

अतीत : जटिल संघर्षों से भरा किन्तु साहस से ओत-प्रोत।

पैंतालिस वर्ष की आयु में कॉलेज में दाखिला लेकर छोटे बेटे के साथ बी.ए., फिर एम.ए.। कविता, शेरो-शायरी में दखल। पत्रकारिता और धार्मिक अध्ययन में रुचि। समीक्षक : प्रवचनकार।

सहकारिता के अध्ययनार्थ देश-विदेश का व्यापक भ्रमण।

वर्तमान : प्राचीन इतिहास और मूर्तिकला की शोध-खोज के लिए समर्पित। फ़ोटोग्राफ़ी और चित्र-संकलन में प्रशंसित अध्यवसाय। प्रतिमा-विज्ञान के अध्येता विद्वान्।

साहित्य सेवा : शताधिक अनुसंधानात्मक लेख तथा खजुराहो, कुण्डलपुर, नवागढ़ आदि पर परिचय-पुस्तकें प्रकाशित। 'खजुराहो के जैन मन्दिर' अंग्रेजी में अनूदित-प्रकाशित—'जैन मान्युमेण्ट्स एट खजुराहो'। अनेक स्फुट सामयिक लेख, ललित निबन्ध और कविता-संग्रह प्रकाशित। ज्वलंत सामाजिक संदर्भों पर अति-चर्चित कृति "सोनगढ़-समीक्षा" के प्रणेता।

गोमटेश्वर बाहुबली को व्याख्यायित करने वाली सरस एवं कालजयी कृति 'गोमटेश-गाथा' के रचनाकार। इस ऐतिहासिक उपन्यास के लिए अखिल भारतीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद द्वारा 'गोपालदास बरैया पुरस्कार' से सम्मानित। भारतीय ज्ञानपीठ से दो संस्करणों के साथ कुम्बोज से मराठी अनुवाद भी प्रकाशित। कन्नड़ अनुवाद प्रकाशनाधीन।

ओजस्वी वक्ता और जैन आगम के प्रभावक-प्रवचन-कार, अनेक समाजसेवी संस्थाओं, तीर्थक्षेत्र प्रबन्ध समितियों तथा साहित्यिक गतिविधियों से सम्बद्ध।

स्थायी पता : शान्ति सदन, [illegible] (म.प्र.) 485001